केनोपनिषद्

उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित -

शाङ्करीव्याख्यानामक - वीरशैवभाष्योपेता

अनुवादकः सम्पादकश्च

पं० श्रीजगन्नाथशास्त्रीतैलङ्गः



प्रकाशकः

शैवभारती - शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाडीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — १२

केनोपनिषद्

उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित –

शाङ्करीव्याख्यानामक-वीरशैवभाष्योपेता

अनुवादकः सम्पादकश्च

पं० श्रीजगन्नाथशास्त्रीतैलङ्गः

प्रकाशकः

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी - २२१ ००१

प्रथमं संस्करणम् १९९६

मूल्यम् : सजिल्द रु० २००
अजिल्द रु० १५०

अक्षर संयोजन :
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी

मुद्रक :
जौहरी प्रिंटर्स
शिवाजी नगर, महमूरगंज, वाराणसी

Research Publications Series — 12

KENOPANIṢAD

Śānkarīvyākhyā-Vīraśaivabhāṣya

by

Umacigi Śankaraśāstri

Translated and Edited by

Pt. Jagannath Shastri Tailang

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

First published 1996

ISBN 81-86768-21-1 (Hb)
ISBN 81-86768-22-X (Pb)

Price : Rs. 200 (Hb) Rs. 150 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :
Jauhari Printers
Mahmoorganj, Varanasi - 221 010

समर्पण



शैवभारती शोधप्रतिष्ठान की स्थापना के प्रेरणास्त्रोत महान् विभूति
काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन के ८५ वें पीठाधिपति
लिंगैक्य श्री १००८ जगद्गुरु विश्वेश्वरशिवाचार्य
महास्वामीजी को यह वाङ्मय-सुमन समर्पित

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-संस्थापकानां



श्रीकाशीविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाधीश्वराणां

श्री १००८ जगद्गुरु-डॉ० चन्द्रशेखरशिवाचार्यमहास्वामिनां

शुभाशीर्वचनम्

भगवान् शिव ने लोकोद्धार के लिये अपने सद्योजात मुख से ऋग्वेद का, वामदेव मुख से यजुर्वेद का, अघोर मुख से सामवेद का, तत्पुरुष मुख से अथर्ववेद का और ईशान मुख से अठाईस शैवागमों का आविर्भाव किया। कामिक से वातुल पर्यन्त इन शैवागमों की संख्या अठाईस है। प्रत्येक आगम ज्ञानपाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद नामक चार पादों से युक्त है। भारतीय सनातन धर्म-दर्शन के निगमागम ही मूल आधार हैं। सभी सनातन धर्मावलम्बी निगमागमोक्त धर्माचरण से ही परम पुरुषार्थ को पा रहे हैं।

निगम और आगम भगवान् शिव से ही प्रादुर्भूत हैं, अत एव परस्पर विरुद्धार्थक नहीं हैं। श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्यजी ने अपने क्रियासार ग्रन्थ के प्रथमोपदेश में इस विषय का इस प्रकार समर्थन किया है —

परस्पराविरुद्धार्थाः शिवोक्ता निगमागमाः ।
अल्पबुद्धिभिरन्योऽन्यं विरोधः परिकल्प्यते ।।

श्रीजगद्गुरु विश्वाराध्य जनकल्याण प्रतिष्ठान के अधीन कार्यरत शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा विगत दो वर्षों से श्री महाशिवरात्रि के पावन पर्व पर हिन्दीभाषा के अनुवाद के साथ आगम ग्रन्थों का प्रकाशन हो रहा है। उसी शृंखला में इस वर्ष निगम विभाग में समाविष्ट उपनिषदों में से कुछ प्रधान उपनिषदों का वीरशैव मत के प्रतिष्ठापक भाष्यों और भाषानुवादों के साथ प्रकाशित कराने का संकल्प लिया गया है। तदनुसार सर्वप्रथम यहाँ समस्त उपनिषत्संग्रहों में द्वितीय स्थान प्राप्त केनोपनिषद् का वीरशैव मत के महान् आचार्य श्रीमान् उमचिगि-शंकरशास्त्री द्वारा रचित शांकरी व्याख्या और काशी के सुविख्यात विद्वत्कुल के भूषण श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलंग द्वारा निबद्ध भावार्थदीपिका नामक हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशन किया जा रहा है।

श्री तैलंग शास्त्री जी ने ग्रन्थ के भाषानुवाद के साथ भाष्य का भी परिष्कृत संस्करण तैयार किया है। अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में इन्होंने सभी आवश्यक विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। ये अन्य उपनिषदों का भी इसी पद्धति से परिष्कृत संस्करण तैयार कर रहे हैं। हम भगवान् विश्वेश्वर तथा श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य जी से यही प्रार्थना करते हैं कि आपकी आयुरारोग्य की वृद्धि हो तथा आपके द्वारा निरन्तर साहित्य-सेवा होती रहे। इन्हीं मंगल-कामनाओं के साथ हम अपना आशीर्वचन पूर्ण करते हैं।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

इति शिवं भूयात्।

प्रस्तावना

जीवात्मा बिना शरीर का अवलम्बन किये कोई व्यापार नहीं कर सकता। जब वह शरीर का अवलम्बन करता है, तब इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार प्रारम्भ करती हैं। उससे भी पूर्व प्राण-वायु उस शरीर का संचालन करता है। संकल्प-विकल्पात्मक मन अपने-अपने विषय की ओर प्रवृत्त होता है। पाँच कर्मेन्द्रियों में वागिन्द्रिय शब्दोच्चारण करती है, हाथ वस्तुओं को ग्रहण करता है, पैर चलते हैं, पायु मलत्याग करता है और उपस्थ मूत्र-विसर्जन। पाँच ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र देखते हैं, कान सुनते हैं, नाक सूँघती है, जिह्वा स्वाद लेती है और त्वचा स्पर्श करती है।

शरीरधारी जीवात्मा देखता है कि प्राण शरीर-संचालन कर रहा है, मन विषयाभिमुख हो रहा है, कर्मेन्द्रियाँ अपने कर्मों में तथा ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं। किन्तु उसे उनकी प्रेरक शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। तब उसे तीव्र जिज्ञासा होती है —

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।

इन्द्रियाँ किसके द्वारा प्रेरित होती हैं? मन किसके द्वारा प्रेरित होकर विषयाभिमुख होता है? इन्द्रियव्यापार से पूर्व प्रवृत्त होने के कारण वरीयान् प्राण किससे प्रेरणा पाकर समस्त जीवन-संचालन करता है? लोक किससे प्रवृत्त होकर वैखरी वाणी बोलते हैं? कौन तेजस्वितासम्पन्न नेत्रेन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को दर्शन अथवा श्रवण के लिए प्रेरित करता है? ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जो जीवात्मा के मन में अनादिकाल से उठ रहे हैं। सम्पूर्ण मन्त्र में 'केन' और 'कः' इस तृतीया और प्रथमा विभक्ति का प्रयोग करते हुए 'किम्' इस प्रश्नवाचक सर्वनाम के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा की गयी है, इसलिए इस उपनिषद् का नाम 'केनोपनिषद्' सार्थक है।

यह 'ब्राह्मी उपनिषद्' है। केनोपनिषद् के चतुर्थ खण्ड में शिष्य जब गुरु से प्रश्न करता है — 'उपनिषदं भो ब्रूहि', तब गुरु उसे उत्तर देता है — 'उक्ता योपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति'।। (के० उ० ४.७)

ब्राह्मी उपनिषद् का अर्थ है ब्रह्म से सम्बन्धित उपनिषद् ब्रह्मविद्या। ब्रह्मण: इयं ब्राह्मी (ब्रह्म से सम्बन्धित)।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि (केन० उ० १/४) मन्त्र-व्याख्या में ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री लिखते हैं — 'तदेव परशिवलिङ्गमेव ब्रह्म।

'बृहत्वात् बृंहणाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयकम्' इत्यर्थ:।

श्रुति गुरु के रूप में दीक्षित शिष्य को उपदेश देती है कि प्रतिमा आकार आदि से आबद्ध 'ब्रह्म' नहीं, अपितु सच्चिदानन्दस्वरूप परमशिवलिङ्ग ही ब्रह्म है। यत: वह बृहत् (विशाल) और बृंहणशील (विस्तारशील) है, अत: उसे 'ब्रह्म' शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

ब्रह्म और लिङ्ग पर्यायवाची हैं। 'आप्यायन्तु ममाङ्गानि' इस शान्तिमन्त्र के अन्तर्गत 'माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम्' इसकी व्याख्या करते हुए ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री लिखते हैं — 'ब्रह्म लिङ्गम्', 'लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्', 'तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम्', 'लिङ्गं ब्रह्म सनातनम्' इत्याद्युक्ते:। 'ब्रह्म लिङ्ग है', इसमें अनेक वचन प्रमाण हैं — 'लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्' इत्यादि।

लिङ्ग शब्द का निर्वचन करते हुए अन्यत्र यह सिद्ध किया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी देवता और सभी श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम आदि प्रमाणग्रन्थ जहाँ पर लीन होते हैं, जहाँ पहुँचते हैं, वह एकमात्र लिङ्गस्वरूप ब्रह्म ही है —

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा: सर्वे वेदादयस्तथा ।
लीयन्ते यत्र गम्यन्ते तल्लिङ्गं ब्रह्म केवलम् ।।

अनुभवसूत्र के अनुसार वही लिङ्गस्वरूप ब्रह्म त्रिविध रूप धारण करता है — जब वह सत्तात्मक (सद्रूप) होता है, तब उसे भावलिङ्ग कहते हैं ; जब चिद्रूप होता है, तब प्राणलिङ्ग कहते हैं और जब आनन्दरूप होता है, तब इष्टलिङ्ग कहते हैं —

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याच्चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।।

अत एव ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री लिखते हैं — 'ब्रह्मण: परशिवस्य इयं चिच्छक्तिरूपा उपनिषद् विद्या।' यह ब्राह्मी उपनिषद् अर्थात् परशिवस्वरूप ब्रह्म से सम्बद्ध चिच्छक्तिस्वरूपा ब्रह्मविद्या है। 'चिच्छक्ति', 'वीर्य' और 'बल'

पर्यायवाची हैं। 'आप्यायन्तु ममाङ्गानि' इस शान्तिमन्त्र में 'बलम्' की व्याख्या करते हुए ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री लिखते हैं — 'बलं स्वस्वकारणशक्तिं निरावरणं चिद्रूपम्', 'बललाभे विश्वमात्मसात् करोति' इति सूत्रव्याख्याने चितेर्बलत्वव्यपदेशात्, देहेन्द्रियादिपरम्पराकारणत्वाच्चिच्छक्तेरेव।'

बल का अर्थ है अपनी-अपनी कारणात्मिका आवरणरहित चिद्रूपा शक्ति, क्योंकि 'बललाभे विश्वमात्मसात्करोति' इस सूत्र के व्याख्यान में 'चिति' का व्यवहार 'बल' के रूप में ही किया गया है, यत: चिच्छक्ति ही शरीर, इन्द्रिय आदि की कारण-परम्परा है। 'चिति' चित्त से भिन्न है और 'चित्त' चिति से पृथक् नहीं है। संकोचावस्था और विकासावस्था के ये दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। 'शक्तिसूत्र' के अनुसार 'चितिरेव चेतनपदादवरूढा चैत्यसङ्कोचिनी चित्तम्। तत्परिज्ञाने च चित्तमेवान्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहाच्चिति:।' 'चिति' जब चेतन पद से अवरोहण करती है, तब उसका संकोच होता है। 'चिति' की यह संकोचावस्था ही 'चित्त' है। संकोचावस्था का ज्ञान होने पर जब 'चित्त' अन्तर्मुख होता है, तब चेतनपद पर आरूढ होता है। 'चित्त' की यह विकासावस्था ही 'चिति' है। 'चिच्छक्ति' 'वीर्य' और 'प्रतिबोध' शब्दों से भी सम्बोधित होती है। 'प्रतिबोध' का वास्तविक अर्थ है लिङ्गाङ्गसामरस्य। दूसरे शब्दों में ज़ीव का शिव के साथ समरस होना। जीव का जी़वत्व तभी तक रहता है, जब तक उसका चित्त संकुचित होता है। जब वह विकसित होता है, तब शिव बन जाता है। यही शिवाद्वैत ज्ञान प्रतिबोध है अथवा चिच्छक्ति है, जो द्वैतज्ञानात्मक सुख, दु:ख, मोह, संकल्प, अध्यवसाय आदि बन्धनों को दूर करती है। चिच्छक्ति ही जीव को यह अनुभव कराती है कि 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय सर्वज्ञ, सर्वात्मक शिव हूँ।'

यही चिच्छक्ति 'ब्राह्मी उपनिषद्' है, परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार करानेवाली ब्रह्मविद्या है। 'उपनिषद्' शब्द का निर्वचन ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री इस प्रकार करते हैं — 'मया (गुरुणा) (उप) सामीप्येन सामरस्यलक्षणेन (नि) नितरां परशिवब्रह्म प्राप्य कृत्रिमाहङ्कारादीन् शिथिलीकृत्य स्वशक्तिसङ्कोचाख्यातिं सादयति अपसारयति शैव इति उपनिषद्।' गुरु के द्वारा दीक्षित वीरशैव शिष्य सामरस्य भाव से परम शिवस्वरूप ब्रह्म के अत्यन्त निकट पहुँचकर कृत्रिम अहंकार आदि के बन्धनों को शिथिल करते हुए अपनी शक्ति के संकोचाख्याति को दूर करता है, अत: ब्रह्मविद्या का उपनिषद् नाम सार्थक है।

केनोपनिषद् उन अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान करती है, जो अनादि काल से जीव के अन्त:करण में उभरते हैं— 'मैंने इस शरीर का आश्रय लिया है, उसमें प्राणसंचार कौन करता है, उसमें अवस्थित इन्द्रिय-व्यापार कैसे होते हैं, उन्हें कौन प्रेरणा देता है?' इत्यादि-इत्यादि। इसी ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान केनोपनिषद् करती है। १०८ उपनिषदों के दस प्रतिनिधि-उपनिषदों में इसका द्वितीय स्थान है, जो सामवेद के अन्तर्गत है। इसे 'तलवकार' भी कहते हैं।

शान्तिपाठ — 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार सामवेद की सोलह उपनिषदों का शान्तिपाठ मन्त्र है — 'आप्यायन्तु ममाङ्गानि।' जैसा कि वचन है — 'सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानाम् उपनिषदाम् आप्यायन्त्विति शान्तिः।' सामवेद के दो प्रतिनिधि उपनिषद् हैं — 'केन' और 'छान्दोग्य'। अत: 'केनेषितं पतति' इस मन्त्र के प्रारम्भं में 'आप्यायन्तु ममाङ्गानि' इस शान्तिमन्त्र का पाठ किया जाता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः का अर्थ है मेरे (जीव के) आणव, कार्म और मायीय त्रिविध मलों का शमन हो, मेरे आधिभौतिक मेरे आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध दु:खों का प्रशमन हो। अत: प्रत्येक शान्तिमन्त्र में प्रणवोच्चारण पूर्वक त्रिवार 'शान्ति' का उच्चारण किया जाता है। उपनिषद् के आदि-अन्त में निर्विघ्न कार्य-परिसमाप्ति के लिए शान्तिमन्त्र के पाठ का विधान किया गया है।

इस शान्तिमन्त्र में दीक्षित शिष्य कामना करता है कि मेरे त्रिविध शरीर, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन और प्राण आवरणरहित अपनी-अपनी कारणात्मिका 'बल' शब्द से व्यवहृत 'चिच्छक्ति' को प्राप्त करें, मुझ (जीव) से पुन: सम्बद्ध न हों; क्योंकि 'अहम्' (मैं) 'मम' (मेरा) इत्यादि अहन्ता-ममता की अभिमान-भावना बन्धनकारिणी होती है, क्योंकि चिच्छक्ति से सम्बद्ध त्रिविध शरीर, इन्द्रिय और प्राण (चिच्छक्तिविशिष्ट) ब्रह्मस्वरूप होते हैं। मैं परमशिव-लिङ्गस्वरूप परब्रह्म का उस प्रकार कभी भी अनादर नहीं करूँगा, जिस प्रकार उत्पत्तिविनाशशाली हेय प्रपञ्च का अनादर करता हूँ। मैं सर्वदा उसकी मानस पूजा में अपना चित्त लगाऊँगा। परमशिवस्वरूप परब्रह्म अपने पद से मुझे विमुक्त न करे। वह भ्रमरकीटन्याय से अपने कल्याण गुणसामग्री से अपने शिवस्वरूप तक पहुँचावे और उत्पत्ति-विनाशशील हेय प्रपञ्च से भिन्न मोक्ष पद दिलावे। वह मेरा आत्यन्तिक पाशविच्छेद करे। सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता,

अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति इन षड्विध शैव-गुणों (माहेश्वर धर्मों) की मुझमें प्रतिष्ठा हो।

प्रश्नवाक्य — जीव के मन में ब्रह्मजिज्ञासा तब जागती है, जब जन्म-जन्मान्तरीण श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठान से उसके मन में भक्ति का उद्रेक होता है, जिसे शक्तिपात भी कहते हैं। तब योग्य गुरु उस जीव को दीक्षासम्पन्न करता है। वह गुरु नन्दी आदि गणनायकों के गोत्र में उत्पन्न होना चाहिए, उसको वीरमाहेश्वर-दीक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो दीक्षित शिष्य को षट्कर्म का अधिकार प्रदान करे। उस योग्य गुरु द्वारा उपदिष्ट मन्त्रदीक्षा से शिष्य के मन में लिङ्गाङ्गसामरस्य के अङ्कुर उत्पन्न होते हैं, जिससे शिष्य के मन में 'केन' (किसके द्वारा) 'कः' (कौन) आदि अनुत्तरित प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह प्रश्नवाक्य ही 'केनोपनिषद्' नाम को सार्थक करता है।

'केनोपनिषद्' के चार खण्ड हैं। उसके प्रथम खण्ड में ८, द्वितीय खण्ड में ५, तृतीय खण्ड में १२ और चतुर्थ खण्ड में ९ इस प्रकार केनोपनिषद् की सम्मिलित मन्त्र-संख्या ३४ हैं। प्रथम खण्ड में प्रश्नवाक्य का समाधान आगे किया गया है। प्रसादलिङ्ग, महालिङ्ग, शिवलिङ्ग, प्राणलिङ्ग अपने-अपने श्रोत्रेन्द्रिय, मन, वागिन्द्रिय, प्राणेन्द्रिय और दर्शनेन्द्रिय के अधिष्ठाता शिवलिङ्ग हैं। जो इस वस्तुस्थिति को समझकर अपने-अपने इन्द्रिय और उनके विषयों को अपने से ऊपर अवस्थित ऊर्ध्वलिङ्ग में समर्पित करते हुए महालिङ्ग में विलीन होते हैं, वे अमृतपद प्राप्त करते हैं। उस परमशिवलिङ्ग को आँख नहीं देख सकती, वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती और मन वहाँ नहीं पहुँच सकता। न तो वह भावात्मक कारण स्वरूप है और न अभावात्मक कार्यस्वरूप। एकमात्र योग्य गुरु ही उसका साक्षात्कार करा सकता है। प्रसादलिङ्ग के रूप में परमशिवलिङ्ग ही उस-उस अर्थ का प्रकाशन करता है। महालिङ्ग के रूप में परमशिव ही मानस-व्यापार करता है। शिवलिङ्ग के रूप में वही प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है। प्रसादलिङ्ग के रूप में वही श्रावण प्रत्यक्ष कराता है। प्राणलिङ्ग के रूप में प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान के रूप में पंचप्राणों द्वारा वही शरीर-संचालन करता है। ब्रह्मा, विष्णु आदि देव परमशिव का सामर्थ्य नहीं रखते। नारायण परमशिवस्वरूप ही है। यही प्रथम खण्ड का आशय है।

इस प्रकार प्रथम खण्ड की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री ने श्रुति, स्मृति, पुराण, भगवद्गीता, आगमग्रन्थ आदि के प्रामाणिक वचनों को उद्धृत करते हुए वीरशैव-दर्शनसम्मत अनेक विषयों का निरूपण किया है। षड्विध माहेश्वर धर्म, भस्म-रुद्राक्षादि धर्म, करणलिङ्गों का इन्द्रियप्रेरकत्व, इन्द्रिय एवं उनके विषयों का तत्तदधिष्ठाता लिङ्गों को समर्पित करते हुए उन लिङ्गों का क्रमशः उनके ऊपर के लिङ्ग में विलयन और अन्ततः सबका महालिङ्ग में विलयन, परमशिवलिङ्ग की इन्द्रियातीतता चतुर्विध वाग्विलास, बैन्दवी कला, प्रकाश, परमशिवलिङ्ग की अवाङ्मनसगोचरता, उसका भावैकग्राह्यत्व, षट्स्थलरूप ब्रह्म, प्रसादलिङ्ग, महालिङ्ग, शिवलिङ्ग और प्राणलिङ्ग का आविर्भाव, विश्व का ब्रह्मकार्य के रूप में ऐक्य प्रतिपादन आदि विषय इस खण्ड में सप्रमाण निरूपित हैं।

द्वितीय खण्ड में यह प्रतिपादित किया गया है कि महालिङ्ग से आचारलिङ्ग तक षट्स्थललिङ्गों में अन्यतम किसी लिङ्गस्वरूप का साक्षात्कार करनेवाला उसके स्वल्प सीमित स्वरूप का ही साक्षात्कार करता है, क्योंकि परमशिवलिङ्ग ही उपासक के ध्यान और पूजा के लिए अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति अथवा ऊर्ध्वमायाशक्ति से तीन लिङ्गों के रूप में प्रकट होकर सभी प्राणियों के मूलाधार, हृदयस्थल और भ्रूमध्य में दृष्टिगोचर होता है। वह षट्स्थललिङ्गों के रूप में प्रकट होकर चाक्षुषादि प्रत्यक्षज्ञान का विषय बनता है। किन्तु तत्तत् लिङ्गसाक्षात्कार मोक्षफलदायी नहीं होता। साथ ही भावाभावप्रपञ्चस्वरूप उसका साक्षात्कार उतना सुकर नहीं है, जितना घट और घटाभाव का ज्ञान, क्योंकि केवल भावस्वरूप में अथवा केवल अभावस्वरूप में उसका साक्षात्कार अपूर्ण ही माना जायगा, सम्पूर्ण नहीं। परशिवलिङ्ग की सर्वात्मकता ही उसके भावाभावात्मक स्वरूप का ज्ञान करा सकती है। यतः परशिवलिङ्ग विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण है और विश्व भावाभावस्वरूप है, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हम करते हैं, अतः परशिवलिङ्ग का भावाभावात्मक स्वरूप सुतरां सिद्ध है। जो भक्त समस्त विश्व को अपना देह समझता है, वह विश्व के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार कोई देहधारी अपने शरीर की खुजलाहट का। प्रतिबोध अथवा लिङ्गाङ्गसामरस्य से जीव को अमृतपद-प्राप्ति होती है। आत्मशुद्धि से वह वीर्य अथवा चिच्छक्ति प्राप्त करता है। परमेश्वर-परब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाली वह चिच्छक्ति ही ब्रह्मविद्या है, जिससे अमृतपद-प्राप्ति होती है। मनुष्य योनि में उत्तम

वीरशैव के वंश में जन्म लेनेवाला जीव जब विश्वात्मक, विश्वाधिक सर्वज्ञादिगुणसम्पन्न परमशिव के रूप में स्वयं का साक्षात्कार करता है, तब परमशिवपद प्राप्त करता है, अन्यथा पुन: जन्म-मरणादि चक्र में फंसकर बन्धन में पड़ता है और उसका विनाश होता है। शरीरादि में अभिमान का त्याग करने वाले वीरशैव अमृत (जन्ममरणादिरहित मोक्ष) पद प्राप्त करते हैं।

इस सारतत्त्व का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी ने अनेक प्रमाणों तथा युक्तियों के आधार पर परमशिवलिङ्ग की स्थानगोचरता, सर्वात्मक विश्व के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप का साक्षात्कार, जगत् की यथार्थता, प्रतिबोध, वीर्य, विद्या, अमृतपद, शिवध्यान, शिवभावना, शाम्भव समावेश, पाश-जाल, उन्मनी, जीव, शिव, चित्तवृत्ति, अनित्यतावाद और उसका खण्डन, चिच्छक्ति, चिति, चित्त, बन्ध, दीक्षा, निर्वाणदीक्षा, आत्मशुद्धि, ध्यान, सगुण और निर्गुण ध्यान की शशशृंगस्वरूपता और उसका निषेध आदि अनेक विषयों का सविस्तर विवेचन किया है।

तृतीय खण्ड और चतुर्थ खण्ड के तीन मन्त्रों में आख्यायिकाम्नाय और उपनिषद् समाप्ति तक उपदेशाम्नाय है।

उस आख्यायिकाम्नाय की आख्यायिका इस प्रकार है — देवों और असुरों के संग्राम में सभी तत्त्वों के ऊर्ध्व में अवस्थित परमशिवलिङ्ग ने देवों को असुरों पर विजय प्राप्त करा कर देवों को निर्भय बना दिया। उस परमशिवलिङ्ग ने अदृश्य होकर देवताओं को प्रेरित करते हुए उन्हें विजयश्री दिलायी थी, पर देवता उसे अपनी विजयश्री समझ बैठे। उनका दर्पदलन करते हुए परशिवस्वरूप परब्रह्म देवताओं के मध्य में चिच्छक्तिपीठ के सहित स्तम्भाकार में परमशिवलिङ्ग के रूप में प्रकट हुए। देवता उसकी महिमा नहीं समझ सके कि यह 'यक्ष' पूजा के योग्य पवित्रतम मंगलमूर्तिस्वरूप क्या है?

देवताओं ने अग्नि, वायु और इन्द्र को उसका स्वरूप जानने के लिए भेजा। परमशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म ने उनके सामने एक तिनका रखा। अग्नि न तो उसे जला सका और न वायु उसे उड़ा सका। इन्द्र जब उसके सम्मुख आये, तब वह परमशिवलिङ्ग अदृश्य हो गया। इस प्रकार तीनों का दर्पदलन हुआ।

उसी समय अन्तरिक्ष में परमशिव की पराशक्ति हिमवान् की पुत्री उमा इन्द्र के सम्मुख प्रकट हुई; इन्द्र ने उससे जिज्ञासा की। उस शक्ति ने इन्द्र से कहा कि

वस्तुत: परब्रह्म की प्रेरणा से ही आपने असुरों पर विजय प्राप्त की है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। यह विजय परमशिव की ही विजय है। इस प्रकार इन्द्र ने सर्वप्रथम परमशिवस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार किया और देवताओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उसके पश्चात् इन्द्र के द्वारा अग्नि और वायु ने ब्रह्मस्वरूप को समझा। अत: इन्द्र के पश्चात् अग्नि और वायु ने देवताओं में स्थान प्राप्त किया। पश्चात् देवताओं ने उनके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार किया। यहीं आख्यायिकाम्नाय की समाप्ति होती है।

यहाँ से उपदेशाम्नाय का प्रारंभ होता है। उसके तीन भाग हैं — आधिदैवत, अध्यात्म और आत्मशुद्धि का साधनोपदेश। आख्यायिकाम्नाय से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सभी प्राणियों में प्राणलिङ्ग का निवास होता है, जो सभी को इन्द्रिय-व्यापार के लिए प्रवृत्त करता है। वह परमशिव का ही अन्यतम रूप है, उससे भिन्न नहीं है। उसीसे प्रेरणा प्राप्त कर देहधारी जीव सभी व्यापारों में प्रवृत्त होता है, उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। अत: उसका अभिमान करना व्यर्थ है। यही उपदेशाम्नाय का प्रथम आधिदैविक उपदेश है।

जिस प्रकार विषयासक्त चित्त विषयों की ओर आकृष्ट होता है, उसी प्रकार विषयरहित होकर चितिशक्ति के रूप में षट्स्थलब्रह्म के साथ अविनाभावसम्बन्ध से युक्त होकर परशिवब्रह्म का साक्षात्कार करता है। यही इस उपनिषद् का आध्यात्मिक उपदेश है। इसके लिए इष्टलिङ्ग की उपासना करनी चाहिए। स्थूल छह भौतिक पदार्थों का स्थूल षड्लिङ्ग गर्भ इष्टलिङ्ग में संयोजन करना चाहिए। यही इष्टलिङ्ग की उपासना है और यही ब्राह्मी उपनिषद् (ब्रह्मविद्या) है। उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। वह दो प्रकार की है — देहशुद्धि और जीवशुद्धि। परमशिवपद-प्राप्ति के लिए शरीर को दुर्बल करना ही तप और बाह्येन्द्रियदमनरूप दम है, जो देहशुद्धि के साधन हैं। शिव की आन्तर और बाह्य अर्चना से जीवशुद्धि होती है। अत: शिवार्चास्वरूप कर्म द्वितीय आत्मशुद्धि का साधन है। उक्त प्रकार के तप, दम और कर्म ब्रह्मविद्या के आविर्भाव के कारण हैं। वेद, वेदांग और सत्यवचन भी उक्त फल के साधनीभूत आयतन हैं। यह तृतीय साधनोपदेश है। अन्त में केनोपनिषद् की फलश्रुति यह है कि उक्त साधनसम्पन्न जो जीव ब्रह्मविद्या का साक्षात्कार करता है, वह पापादिजनक आणव, मायीय और कार्मिक मलों का प्रक्षालन करते हुए अनन्त ज्येष्ठ सुखास्पद परमशिवलोक में प्रतिष्ठित होता है।

'प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति' इस प्रकार की द्विरुक्ति उपनिषद्-समाप्ति की सूचना देती है।

इस प्रकार ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी ने केनोपनिषद् की वीरशैवदर्शनसम्मत विस्तृत सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है, जो सम्प्रदायानुयायियों के लिए अत्यन्त उपादेय है।

संस्कृत प्रस्तावना

'केनोपनिषद्' का कन्नड़-संस्करण ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी की शाङ्करी व्याख्या एवं उसके कन्नड़-अनुवाद के साथ सर्वप्रथम प्रकाशित किया गया। तदनन्तर उसका देवनागरी संस्करण उज्जयिनी सद्धर्मसिंहासन के चरपट्टाध्यक्ष जगद्गुरु पं० श्रीमरुळाराध्य शिवाचार्य स्वामीजी द्वारा भारत-सरकार की सहायता से मैसूर स्थित शिवप्रकाश मन्दिर से मुद्रित करते हुए शङ्करविलास संस्कृत पाठशाला (मैसूर) की ओर से प्रकाशित किया गया। इस संस्करण की प्रस्तावना में जगद्गुरु मरुळाराध्य स्वामीजी लिखते हैं — "बुद्धि की विषमता से आस्तिकों के मन में विविध दार्शनिक मत उदित होते हैं। उन नानाविध मतों में चार विश्वप्रसिद्ध भेद हैं — (१) द्वैत, (२) अद्वैत, (३) विशिष्टाद्वैत और (४) शक्तिविशिष्टाद्वैत। इसी प्रकार वैदिक, तान्त्रिक, वैदिक-तान्त्रिक और तान्त्रिक-वैदिक इन दार्शनिक मतों की भी गणना की जाती है। यह विविधता वेदों और आगमों की प्रधानता तथा उनकी अप्रधानता के कारण ही है। उनमें जो वेदसम्मत कर्मानुष्ठान को प्रधानता देता है, वह वैदिक मत है ; जो आगमसम्मत कर्मानुष्ठान को प्रधानता देता है, वह तान्त्रिक मत है ; जो वैदिक कर्मानुष्ठान को प्रधान मानकर आगमसम्मत कर्मानुष्ठान को गौण रूप से स्वीकार करता है, वह वैदिक-तान्त्रिक मत है और जो शैवागमसम्मत कर्मानुष्ठान को प्रधान मानकर उनके अविरोधी वेदसम्मत कर्मानुष्ठान का आदर करता है, वह दर्शन तान्त्रिक-वैदिक है। इनमें अन्तिम दर्शन लिङ्गी और अलिङ्गी के भेद से दो प्रकार का है — पाशुपतदर्शन (अलिङ्गी शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन) और वीरशैवदर्शन (लिङ्गी शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन)। श्रीकण्ठशिवाचार्य पाशुपतदर्शन के प्रणेता हैं, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी के ऊपर ब्रह्ममीमांसानामक सूत्रभाष्य आदि में इसका विस्तारपूर्वक समर्थन किया है। वीरशैवदर्शन के प्रतिष्ठापक जगद्गुरु पञ्चाचार्य हैं। इस दर्शन का सोपपत्तिक विवेचन जगद्गुरु श्रीरेणुकाचार्य द्वारा उद्गीत सिद्धान्तशिखामणि और प्रथम प्रस्थान ब्रह्मसूत्र पर आद्य नीलकण्ठशिवाचार्य विरचित भाष्यादि में किया गया है।

परमशिवयोगी धर्मरत्न उमचिगि श्रीशङ्करशास्त्रीजी ने अष्टावरण और लिङ्गाङ्गसामरस्य सिद्धान्त के अनुकूल शिवाद्वैत सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ईश, केन, मुण्डक और सिद्धान्तशिखामणि उपनिषदों की शाङ्करी व्याख्या का प्रणयन किया है, जो इसके पूर्व कन्नडलिपि में और अब देवनागरी लिपि में प्रकाशित की जा रही है''।

वीरशैवदर्शनप्रवर्तक जगद्गुरु पञ्चाचार्य — ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी केनोपनिषद् की शाङ्करी व्याख्या के प्रारंभ में जगद्गुरु पञ्चाचार्यों की वन्दना इस प्रकार करते हैं —

पञ्चाचार्यान् नमस्कुर्वे ज्ञानसिंहासनाधिपान् ।
पञ्चब्रह्ममयान् पञ्चतत्त्वाधीशान् जगद्गुरून् ।।

'ईशावास्योपनिषद्' के वीरशैवभाष्यसहित देवनागरी-संस्करण में उज्जयिनी महापीठ के पट्टाध्यक्ष श्रीशिवप्रकाशस्वामीजी तत्रत्य सद्धर्म-सिंहासन द्वारा संचालित ज्ञानगुरु विद्यापीठ का परिचय देते हुए लिखते हैं —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूतले ।
तदा तदाऽवतारोऽयं महेशानां महीतले ।।

इस आगमवचन के अनुसार संसार में धर्म-दर्शन, संस्कृति, नीतिमत्ता इत्यादि का ह्रास होने पर भगवान् के अंशावतारस्वरूप अनेक महात्मा और आचार्य अवतीर्ण होकर धर्मसंस्थापना करते हैं। इन आचार्यों में वीरशैवदर्शनप्रवर्तक आचार्यों का विलक्षण महत्त्व है, क्योंकि चारों युगों में पाँच आचार्यों ने धर्मोद्धार की कामना से अवतार लेकर शैव पीठों में धर्मस्थापना की। परमशिव के पाँच मुख हैं — सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। इनसे इन पाँच आचार्यों का उद्‌गम माना जाता है। वे हैं — रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, घण्टाकर्णाचार्य, धेनुकर्णाचार्य और विश्वकर्णाचार्य। परमशिव के पाँच प्रधान प्रमथगण हैं — वीर, नन्दी, भृङ्गी, वृषभ और स्कन्द। उक्त पञ्चाचार्य इन्हीं गोत्रप्रवरों के थे —

(१) जगद्गुरु रेणुकाचार्य का वीरगोत्र था, जिन्होंने रम्भापुरी में पीठस्थापना की।

(२) जगद्गुरु दारुकाचार्य का नन्दिगोत्र था, जिन्होंने उज्जयिनी में सद्धर्मसिंहासन की स्थापना की।

(३) जगद्गुरु घण्टाकर्णाचार्य का भृङ्गिगोत्र था, जिन्होंने श्रीशैल में पीठस्थापना की।

(४) जगद्गुरु धेनुकर्णाचार्य का वृषभगोत्र था, जिन्होंने हिमालय के केदार-खण्ड में पीठ स्थापित किया।

(५) जगद्गुरु विश्वकर्णाचार्य का स्कन्दगोत्र था, जिन्होंने श्रीक्षेत्र काशी में ज्ञानसिंहासन की स्थापना की।

उक्त नाम द्वापरयुग के अनुसार हैं, जैसा कि वीरशैवसदाचारसंग्रह (१.३२-३३) में वर्णित है —

द्वापरे रेणुकश्चेति दारुकश्च द्वितीयकः ।
तृतीयः शङ्कुकर्णश्च चतुर्थो धेनुकर्णकः ।।
पञ्चमो विश्वकर्णाख्यः कलावपि मम प्रिये ! ।

कलियुग के अनुसार इनके नाम हैं —

रेवणो मरुळश्चैकोरामः पण्डित एव च ।
विश्वाराध्य इति प्रोक्तः कलावपि मम प्रिये ! ।।
(वी० स० सं० १.३४)

कलियुग में सर्वश्री रेवणाराध्य, मरुळाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य नाम से वीरशैवमतप्रवर्तक जगद्गुरु पञ्चाचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ। सत्ययुग और त्रेतायुग में इनके नाम भिन्न-भिन्न थे।

इन पञ्चाचार्यों में अन्तिम श्रीविश्वाराध्य कलियुग में श्रीकाशी क्षेत्र के विश्वेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग से प्रादुर्भूत हुए। ये परमशिव के पञ्चम ईशानमुख के अवतार माने जाते हैं। सत्ययुग में ये पंचाक्षर शिवाचार्य नाम से, त्रेतायुग में पंचवक्त्र शिवाचार्य नाम से और द्वापरयुग में विश्वकर्ण शिवाचार्य नाम से विख्यात थे। आपने काशी क्षेत्र में ज्ञानसिंहासन स्थापित किया, जो संप्रति जंगमवाड़ी मठ नाम से प्रसिद्ध है। इस पीठ पर वर्तमान में जगद्गुरु चन्द्रशेखर शिवाचार्य प्रतिष्ठित हैं, जिनकी परम अनुकम्पा से वीरशैव-साहित्य का प्रकाशन शैवभारती शोध प्रतिष्ठान द्वारा किया जा रहा है। इसी शृंखला में वीरशैवसिद्धान्तानुसारी संस्कृत-हिन्दी भाष्य-सहित कतिपय उपनिषदों का प्रकाशन हो रहा है। पहले इनका प्रकाशन उज्जयिनी में स्थापित सद्धर्मसिंहासन द्वारा संचालित ज्ञानगुरुविद्यापीठ द्वारा किया गया था।

कतिपय उपनिषदों के वीरशैवभाष्यकार ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी इसी महापीठ द्वारा संचालित संस्थान के आस्थानपण्डित थे। अतएव आपने केनोपनिषद्भाष्य के प्रारंभिक मंगल पद्यों में पञ्चाचार्यों को, दारुकाचार्य को और उज्जयिनी पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री सिद्धलिङ्ग शिवाचार्य को सादर नमन करते हुए भाष्यरचना की है। वहीं हिन्दी भावार्थदीपिका में उनका परिचय द्रष्टव्य है, जिसका आधार जंगमवाड़ी मठ के वर्तमान पट्टाध्यक्ष जगद्गुरु श्रीचन्द्रशेखर शिवाचार्य स्वामीजी द्वारा प्रणीत 'सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा' नामक शोध-प्रबन्ध है। ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व 'ईशावास्योपनिषद्' के हिन्दी-संस्करण में द्रष्टव्य है।

'ईशावास्योपनिषद्' भाष्य की भावार्थदीपिका के बाद 'केनोपनिषद्' की शाङ्करी व्याख्या की भावमय हिन्दी प्रस्तुति अकिञ्चित्कर इस जीव का श्रीशिवचरणों में द्वितीय भावपुष्प समर्पण है। विद्वज्जन इसका नीरक्षीरविवेचन करने में समर्थ हैं। इति शिवम्।

४-१२-१९९५ — भगवच्चरणारविन्दचञ्चरीको

सोमवार — **जगन्नाथशास्त्री तैलङ्गः**



विषयसूची

तृतीय खण्डे



केनोपनिषद्

शाङ्करीव्याख्यासमेता

प्रथमः खण्डः

पञ्चाऽऽचार्यान् नमस्कुर्वे पञ्चसिंहासनाधिपान् ।
पञ्चब्रह्ममयान् पञ्चतत्त्वाधीशान् जगद्गुरून् ।।१।।

मैं उमचिगि शङ्करशास्त्री पञ्च सिंहासनों के पीठाधीश्वर पञ्च तत्त्वों के स्वामी पञ्च ब्रह्मस्वरूप जगद्गुरु पञ्चाचार्यों[१] को नमस्कार करता हूँ ।।१।।

---

१. **विवरण :** वीरशैव धर्म के संस्थापक पाँच सिंहासनों के पाँच पीठों पर अभिषिक्त पीठाधीश्वर पञ्चाचार्य कहलाते हैं। प्रत्येक युग में वीरशैव धर्म की स्थापना करने के लिए परब्रह्मस्वरूप परमशिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नाम के पाँच मुखों से प्रकट हुए, जिनका विवरण इस प्रकार है —

(१) रेवणाराध्य — कलियुग में इनका प्रादुर्भाव आन्ध्रप्रदेश के कुल्यपाक (कोमलुपाक) क्षेत्र में अवस्थित सोमेश्वर शिवलिङ्ग से हुआ। धर्मप्रचारार्थ श्रीचरणों ने कर्नाटक के चिक्कमंगलूर मण्डल के बालेहोन्नूर ग्राम में रम्भापुरी पीठ की स्थापना की। इनका सिंहासन वीरसिंहासन नाम से प्रसिद्ध है। ये द्वापरयुग में रेणुकशिवाचार्य नाम से, त्रेतायुग में एकवक्त्रशिवाचार्य नाम से और कृतयुग में एकाक्षरशिवाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे। इनका वीरगोत्र, रेणुकशाखा और पडिविडिसूत्र है।

(२) मरुळाराध्य — कलियुग में इनका प्राकट्य मध्यप्रदेश में सप्तपुरियों में अन्यतम अवन्तिका (उज्जयिनी) पुरी के वटक्षेत्रस्थित सिद्धेश्वर महालिङ्ग से हुआ। ये कृतयुग में द्व्यक्षरशिवाचार्य, त्रेतायुग में द्विवक्त्रशिवाचार्य और द्वापरयुग में दारुकशिवाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्प्रति कर्नाटक प्रदेश के बल्लारिमण्डल के उज्जयिनी ग्राम में इनके द्वारा प्रतिष्ठापित सद्धर्मसिंहासन का सद्धर्मपीठ है। इनकी दारुकशाखा है और ये नन्दिगोत्र वृष्टिसूत्र के प्रवर्तक हैं। हिन्दुत्व के लेखक रामदास गौड़ के मतानुसार उज्जयिनी में भी इनका शाखामठ था।

(३) एकोरामाराध्य — कलियुग में द्राक्षारामक्षेत्र के रामनाथलिङ्ग से प्रकट होकर श्रीचरणों ने केदारेश्वर के पास केदारपीठ की स्थापना की। ये द्वापरयुग में घण्टाकर्णशिवाचार्य (शङ्कुकर्णशिवाचार्य), त्रेतायुग में त्रिवक्त्रशिवाचार्य और

कृतयुग में त्र्यक्षरशिवाचार्य नाम से संबोधित थे। श्रीचरणों ने भृङ्गिगोत्र और लम्बनसूत्र का प्रवर्तन किया। आपकी धेनुकर्ण (शङ्कुकर्ण) शाखा और वैराग्यसिंहासन (ओखीमठ) प्रसिद्ध हैं।

(४) पण्डिताराध्य — आन्ध्रप्रदेश में श्रीशैलक्षेत्र के मल्लिकार्जुनज्योतिर्लिङ्ग से इनका प्रादुर्भाव हुआ। द्वापरयुग में श्रीचरणधेनुकर्णशिवाचार्य नाम से, त्रेतायुग में चतुर्वक्त्रशिवाचार्य नाम से और कृतयुग में चतुरक्षरशिवाचार्य नाम से प्रकट हुए। उसी क्षेत्र में आचार्यश्री द्वारा स्थापित सूर्यसिंहासन का सूर्यपीठ है। आपने वृषभगोत्र और मुक्तागुच्छसूत्र का प्रवर्तन किया। आपकी शाखा धेनुकर्णशाखा है।

(५) श्रीविश्वाराध्य — श्रीकाशीपुरी के श्रीविश्वेशज्योतिर्लिङ्ग से प्रकट होकर आपने वहीं ज्ञानसिंहासन (ज्ञानपीठ) की स्थापना की। वर्तमान में यह जङ्गमवाडी मठ नाम से प्रसिद्ध है। आपने स्कन्दगोत्र और पञ्चवर्णसूत्र का प्रवर्तन किया। आपकी शाखा विश्वकर्णशाखा है।

इस प्रकार वीरसिंहासन (रम्भापुरीपीठ) के अधीश्वर रेवणाराध्य, सद्धर्मसिंहासन (सद्धर्मपीठ) के अधीश्वर मरुलाराध्य, वैराग्यसिंहासन (केदारपीठ-ओखीमठ) के अधीश्वर एकोरामाराध्य, सूर्यसिंहासन (सूर्यपीठ) के अधीश्वर पण्डिताराध्य और ज्ञानसिंहासन (ज्ञानपीठ, जङ्गमवाडी मठ,काशी) के अधीश्वर श्रीविश्वाराध्य 'पञ्चसिंहासनाधिप पञ्चाचार्य' कहलाते हैं।

पञ्चतत्त्वाधीश — परमशिव की पाँच शक्तियाँ हैं — सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, परिपूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व। जीव (पुरुष) परमेश्वर का अंश है। वह जब परमेश्वर से पृथक् होता है, तब माया उसके ऐश्वर्य का अपहरण करती है। फलस्वरूप जीव की पाँच शक्तियाँ संकुचित होकर पाँच तत्त्व बन जाती हैं, इनका विवरण इस प्रकार है —

(क) कलातत्त्व—किञ्चित्कर्तृत्व (सर्वकर्तृत्वशक्ति का सङ्कोच)।

(ख) विद्यातत्त्व—किञ्चिज्ज्ञत्व (सर्वज्ञताशक्ति का सङ्कोच)।

(ग) रागतत्त्व—विषयासक्ति (पूर्णताशक्ति का सङ्कोच अपूर्णता)।

(घ) कालतत्त्व—भूत,भविष्य और वर्तमानरूप (नित्यता का सङ्कोच अनित्यता)।

(ङ) नियतितत्त्व—नियमहेतुभूत अव्यापकता (व्यापकता का सङ्कोच)।

उक्त पञ्चाचार्य इन पाँच तत्त्वों को अपने वश में करने के कारण पञ्चतत्त्वाधीश कहलाते हैं।

पञ्चब्रह्ममय पाँच शिवलिङ्ग — सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन और श्रीविश्वेश्वर परमशिवस्वरूप पञ्चब्रह्म ही हैं। पञ्चाचार्यों की उत्पत्ति इन्हीं पाँच शिवलिङ्गों से होने के कारण वे पञ्चब्रह्ममय भी हैं।

यो विश्वं व्यदधाच्छिवार्चनपरं यं संस्तुवन्त्यागमा
येनाऽकारि शिवं समस्तयमिनां यस्मै नमः प्राणिनाम् ।
यस्मात् संसृतिसंहृतिः समभवद् यस्येक्षणं मोक्षदं
यस्मिन् सिद्धमभूद् गुरुत्वमखिलं तं दारुकार्यं भजे ।।२।।

निरतिशयगुरुत्वं दारुकाचार्यनिष्ठं
निगमनिचयनुत्यं मुक्तिदानप्रसक्तम् ।
गुरुकुलतिलकं श्रीसिद्धलिङ्गं जगाम
वसनवृतसुगन्धो वस्त्रमन्यद् यथैति ।।३।।

जिसने सम्पूर्ण चरांचर विश्व को परमशिव की आन्तर (मानस) और इष्टलिङ्ग की बाह्य पञ्चोपचार, षोडशोपचार इत्यादि बाह्यपूजन में प्रवृत्त किया, आगम जिसकी स्तुति करते हैं, जिसने सम्पूर्ण यम-नियमशील योगियों का कल्याण किया, जिससे सृष्टि और संहार होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगद्गुरुत्व स्वयंसिद्ध है, मैं उस (परमाराध्य) श्रीदारुकशिवाचार्य को प्रणाम करता हूँ ।।२।।

द्वापरयुग में दारुकशिवाचार्य नाम से प्रसिद्ध कलियुग में सद्धर्मसिंहासन के सद्धर्मपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीमरुलाराध्य का निगमग्रन्थों द्वारा प्रणम्य लिङ्गाङ्गसामरस्यस्वरूप मुक्तिदान में तत्पर निरतिशय विश्वगुरुत्व गुरुकुल के तिलकस्वरूप शिवयोगीन्द्र जगद्गुरु सिद्धलिङ्गशिवाचार्य में उसी प्रकार संक्रान्त हुआ, जिस प्रकार एक वस्त्र में लगी सुगन्धि दूसरे वस्त्र में संक्रान्त होती है।।३।।

जगद्गुरु—'गुणातीतं गुकारं च रूपातीतं रुकारकम् ।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।। (सिद्धा०शि० १५.८)

'सिद्धान्तशिखामणि'कार श्रीरेणुकभगवत्पाद के इस लक्षण के अनुसार प्राकृतगुणातीत (निर्गुण) और अशुद्धमायारूपातीत (निराकार) चिन्मय परमशिव का उपदेष्टा गुरु होता है। एक ही गुरु दीक्षाप्रदान से दीक्षागुरु, शिक्षाप्रदान से शिक्षागुरु और ज्ञानोपदेश से ज्ञानगुरु कहलाता है। उक्त पाँच पीठों पर अभिषिक्त पञ्चसिंहासनाधीश्वर पञ्चाचार्य स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत् के उपदेष्टा होने के कारण जगद्गुरु हैं और पञ्चमहाभूतरूप पञ्चतत्त्वों को अपने वश में करने के कारण पञ्चतत्त्वाधीश भी। ब्रह्मस्वरूप पाँच शिवलिङ्गोत्पन्न ये इनसे अभिन्न होने के कारण पञ्चब्रह्ममय भी हैं। अतः ग्रन्थकार उन्हें नमन कर रहे हैं।।१।।

शिवाद्वैतं समुद्धर्तुं योऽवतीर्य महीतले ।
अलञ्चकार योगीन्द्रः पीठमुज्जयिनीस्थितम् ।।४।।

जिस शिवयोगीन्द्र ने भूतल पर अवतार लेकर शिवाद्वैतदर्शन का उद्धार करने के लिए, उज्जयिनीस्थित सद्धर्मपीठ को सुशोभित किया; जहाँ पर इस भावना

[विवरण : भाष्यकार श्रीशङ्करशास्त्री उज्जयिनी के सद्धर्मसिंहासन (सद्धर्मपीठ) के अधीश्वर जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य के आस्थानपण्डित हैं, जैसा कि शाङ्करीव्याख्या की पुष्पिका से अवगत होता है — 'इति श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वर-सिद्धलिङ्गशिवाचार्यास्थानपण्डितशङ्करशास्त्रिविरचिता केनोपनिषत्प्रथमखण्डस्य शाङ्करी-व्याख्या समाप्ता।'

यह सद्धर्म सिंहासन (सद्धर्मपीठ) पाँच सिंहासनों (पीठ) में अन्यतम है, जिसे द्वापरयुग में श्रीदारुकशिवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध कलियुग के जगद्गुरु श्री मरुलाराध्य ने प्रतिष्ठापित किया। इनका परिचय प्रथम मंगलपद्य की हिन्दी भावार्थदीपिका में द्रष्टव्य है।

शिवयोगी शिवाचार्य ने अपने 'सिद्धान्तशिखामणि' ग्रन्थ में गणेश्वर शिवभक्त श्रीदारुक का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मदेव द्वारा सृष्टि करने में अक्षम होने पर परमशिव ने सृष्टि, स्थिति और संहार में समर्थ शिवानन्दमग्न ज्ञानसम्पन्न प्रमथगणों को जन्म दिया। उन गणों में रेणुक और दारुक उन्हें अत्यंत प्रिय थे। परमशिव ने उन्हें प्रमथगणों का गणेश्वर (गणनायक) बनाया और अपने अन्तःपुर का द्वारपाल नियुक्त किया। अत्यन्त प्रसन्न शिव ने रेणुक को अपने पास ताम्बूल आदि प्रसाद लेने के लिए बुलाया। इससे हर्षित रेणुक शिवभक्त दारुक का उल्लंघन करते हुए शिव के पास पहुँचे। फलतः अत्यंत रुष्ट शिव ने रेणुक को भूलोक (मर्त्यलोक) में जन्म लेने का शाप दिया। अतः द्वापरयुग में परमशिव के प्रथम मुख सद्योजात से श्रीरेणुकशिवाचार्य ने और द्वितीय मुख वामदेव से श्रीदारुकशिवाचार्य ने जन्म लिया। द्वापरयुग के श्रीदारुकशिवाचार्य ही कृतयुग में द्व्यक्षरशिवाचार्य और त्रेतायुग में द्विवक्त्रशिवाचार्य हुए। आपने कलियुग में मध्यप्रदेश में अवस्थित उज्जयिनीपुरी के वटक्षेत्रस्थित श्रीसिद्धेश्वरमहालिङ्ग से प्रकट होकर सद्धर्मसिंहासन (सद्धर्मपीठ) की स्थापना की और उस पीठ पर प्रथम जगद्गुरु के रूप में अभिषिक्त हुए। सम्प्रति यह पीठ कर्नाटक प्रदेश के बल्लारिमण्डल के उज्जयिनीग्राम में अवस्थित है। इस पीठ को ११० जगद्गुरुओं ने समलंकृत किया है। इनमें अन्यतम हैं, श्रीजगद्गुरु सिद्धलिङ्गशिवाचार्य, जिन्होंने विद्वान् भाष्यकार पर कृपादृष्टिपूर्वक उनके गहन अज्ञानान्धकार का निरसन किया।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
भगवत्याः श्रुतेरस्या विरोधो मास्तु सर्वदा ।।५।।
बुद्ध्यैवं वीरशैवानां नमो यत्र प्रवर्तते ।
तं वन्दे शिवयोगीन्द्रं सिद्धलिङ्गं जगद्गुरुम् ।।६।।

यत्स्मृत्या विदधाति ग्रन्थनिचयं सद्भक्तियुक्तो यतो
यं लब्ध्वा लभते श्रियं निरवधिं शैवीं परां चिन्मयीम् ।
यत्सन्दर्शनतः प्रयाति विलयं तापत्रयं देहिनां
सोऽस्तु श्रीगुरुसिद्धलिङ्गयतिराण् मे श्रेयसे भूयसे ।।७।।

से वीरशैवधर्मानुयायियों का प्रणाम पहुँचता है कि 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' (जिस प्रकार परमेश्वर के प्रति परा भक्ति करनी चाहिए, उसी प्रकार गुरुजनों के प्रति भी करनी चाहिए) भगवती वेदमाता के इस आदेश का विरोध (उल्लंघन) सर्वदा — कभी भी न हो; मैं (शङ्करशास्त्री) उस जगद्गुरु सिद्धलिङ्गशिवाचार्य की वन्दना करता हूँ।।४–६।।

(मेरे जैसा शिष्य) जिसके स्मरणमात्र से उसकी सद्भक्ति में लीन होकर ग्रन्थ-समूह की रचना करता है, जिसे प्राप्त कर निरवधि (अनन्त) परा चिन्मयी परमशिव की लक्ष्मी (चिच्छक्तिस्वरूपा शुद्ध ब्रह्मविद्या) को प्राप्त करता है, जिसके दर्शनमात्र से जीवों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख नष्ट होते हैं, वह योगिराज जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य मेरा प्रचुर कल्याण करें ।।७।।

भाष्यकार श्रीशङ्करशास्त्री पण्डितरत्न श्रीअप्पाचार्य के सुयोग्य पुत्र तथा उज्जयिनी महापीठ के आस्थानपण्डित थे। आप कर्नाटक प्रदेश के अन्तर्गत वर्तमान हुब्बलीपत्तन-स्थित उमचिगिपुर के मध्य में प्रकाशमान वृष्टिमठ के मठाधीश थे। इसी सद्धर्मपीठ द्वारा संस्थापित ज्ञानगुरुपीठ की छत्रछाया में शङ्करशास्त्रीजी की दर्जनों दार्शनिक रचनाओं का प्रकाशन केन्द्रीय शासन की सहायता से किया गया है। अतएव आप मांगलिक पद्यों में पञ्चाचार्यों का नमन, जगद्गुरु श्रीदारुकशिवाचार्य की तथा परमश्रेयस्, गुरुकृपाप्राप्ति और ग्रन्थ-समाप्ति की कामना से जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य की वन्दना करते हैं।

जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य ने लोककल्याण की कामना से 'उज्जयिनी जगद्गुरु सद्धर्मसिंहासन ज्ञानगुरु विद्यापीठ' की स्थापना की, जिसकी शाखाएँ चित्रदुर्ग,

सिद्धलिङ्गशिवाचार्यपादपद्मनखत्विषः ।
मदज्ञानतमोनाशं परं कुर्वन्तु सन्ततम् ।।८।।

शङ्करोऽहं यतः स्तौमि सिद्धलिङ्गं जगद्गुरुम् ।
तस्मात् केनोपनिषदो जीयाद् व्याख्या हि शाङ्करी ।।९।।
गुरोः शिवस्य चाऽभेदाद् गुरुः साक्षाच्छिवात्मकः ।
तस्माद् गुरुप्रसादोऽस्तु ह्येतद्ग्रन्थसमाप्तये ।।१०।।

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्याम्। मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य के चरणकमलों के नखों की कान्ति सदा-सर्वदा मुझ (भाष्यकार) में विद्यमान गहन अज्ञानान्धकार को नष्ट करे ।।८।।

यतः मैं भाष्यकार शङ्कर जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य का स्तवन कर रहा हूँ, अतः मेरे द्वारा प्रणीत केनोपनिषद् की (वीरशैवदर्शनप्रतिपादिका) शाङ्करी व्याख्या अमर रहे ।।९।।

गुरु, परमगुरु और परमेष्ठि गुरु इस त्रिविध गुरु और शिव में अभेद होने के कारण गुरु साक्षात् शिवस्वरूप हैं, अतः इस ग्रन्थ की लेखन-संपूर्ति के लिए मेरे ऊपर गुरु-कृपा होनी चाहिए ।।१०।।

गुरुकृतदीक्षा से दीक्षित भक्त शिष्य (जीव) कामना करता है कि 'मेरे समस्त अङ्ग—स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर, वागादि कर्मेन्द्रिय, चक्षु-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय और प्राणवायु उस चित्शक्ति को प्राप्त करें, जो अपनी-अपनी (देह, इन्द्रिय आदि की परम्परा या कारण होने से) निरावरण चिद्रूपा कारणशक्ति है।'

कोट्टूर, लक्ष्मेश्वर, ब्याडगी, तुरुवनूर, गदग, मैसूर आदि क्षेत्रों में हैं। उमचिगि शङ्करशास्त्री इसी महाधर्मपीठ के आस्थानपण्डित थे।

ज्ञानगुरु विद्यापीठ का विशिष्ट परिचय उज्जयिनीमहापीठ के पट्टाध्यक्ष श्री शिवप्रकाश स्वामी द्वारा लिखित है, जो 'ईशावास्योपनिषद्' (शाङ्करीव्याख्या) के अन्त में प्रकाशित है, वहीं द्रष्टव्य है।]

आप्यायन्त्विति। मम दीक्षितस्य, अङ्गानि स्थूलसूक्ष्मकारणरूपाणि त्यागाङ्गादीनि। वागितीतरकर्मेन्द्रियाणाम् उपलक्षणम्। चक्षुःश्रोत्रमिति इतरज्ञानेन्द्रि-याणाम् उपलक्षणम्। प्राणश्च प्रसिद्धः प्राणवायुः।

बलं स्वस्वकारणशक्तिं निरावरणचिद्रूपम्; "बललाभे विश्वमात्मसात्करोति" इति सूत्रव्याख्याने चितेर्बलत्वव्यपदेशात्, देहेन्द्रियादिपरम्पराकारणत्वात् चिच्छक्तेरेव। आप्यायन्तु प्राप्नुवन्तु न पुनर्मा सङ्गच्छन्तु; तेषां सम्बन्धे तत्राऽहंमानिताद्युत्पत्तेः, अहं ममेत्यभिमानस्य च बन्धकत्वात्, तदभिमानपूर्वकत्वात् षडूर्मिषड्वर्गादेः। तस्मात् तत्रैव वर्तन्तामिति। अथो एतादृगर्पणचिन्तनानन्तरम्। सर्वाणीन्द्रियाणि सर्वाणि चाङ्गानि सर्वं सर्वात्मकम्।

"सर्वं सर्वात्मकम्", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतेः औपनिषदं ब्रह्म ब्रह्मैव भवति। चिच्छक्तेः शक्तब्रह्मरूपत्वात्। अहं ब्रह्म लिङ्गम्; "लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्", "तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम्", "लिङ्गं ब्रह्म सनातनम्" इत्याद्युक्तेः। मा निराकुर्याम्

'बललाभे विश्वमात्मसात्करोति' इस सूत्र के व्याख्यान में 'चितिशक्ति' को 'बल' नाम से सम्बोधित किया गया है। इस सूत्र का अर्थ है 'चितिशक्ति (बल) का लाभ होने पर जीव विश्व को आत्मसात् करता है।' अतः जीव कामना करता है कि 'वे मुझसे पुनः सम्बद्ध न हों, क्योंकि उनका सम्बन्ध होने पर 'अहंमानिता' जन्म लेती है, 'अहं मम' (मैं, मेरा) इस प्रकार का अभिमान प्रतिबन्धक होता है। 'षट् ऊर्मि', 'षड् वर्ग' आदि का जन्म 'अहं मम' (मैं,मेरा) इत्यादि अभिमान-पूर्वक ही होता है। अतः मेरे समस्त अङ्ग, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और प्राणवायु उसी चितिशक्ति में विलीन हों।'

इस प्रकार चिच्छक्ति में अङ्गादि का समर्पण (विलय) करने पर सभी अङ्ग और सभी इन्द्रिय सर्वात्मक औपनिषद् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। क्योंकि चिच्छक्ति को शक्तिविशिष्ट ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। श्रुति कहती है — 'सर्वं सर्वात्मकम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

वह ब्रह्म 'लिङ्ग'स्वरूप है। श्रुति कहती है — 'लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्', 'तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम्', 'लिङ्गं ब्रह्म सनातनम्'।

जिस प्रकार मैं उत्पत्ति और विनाश से युक्त हेय संसार की अवहेलना करता हूँ, उस प्रकार मैं उस 'लिङ्ग'स्वरूप ब्रह्म की अवहेलना नहीं करूँगा, अपितु उसे सदा हृदयकमल में धारण करूँगा तथा उसकी पूजा-अर्चना में चित्त को एकाग्र करूँगा।

उत्पादविनाशशालिहेयप्रपञ्चमिव नाधिक्षिपेयम्, किन्तु सर्वदा तत्पूजाधारणाद्यवहितचित्त एव भवामि। मा मां ब्रह्म मा निराकरोत् स्वपदान्न वियोजयतु, किन्तु भ्रमरकीटन्यायेन स्वगतकल्याणगुणसाहित्येन स्वस्वरूपं प्रापयतु। मे मम अनिराकरणं उत्पादविनाशशालित्वाद् हेयः प्रपञ्चो निराकरणं तद्भिन्नम् उपादेयं लिङ्गस्वरूपं ब्रह्म अनिराकरणम्। अस्तु आत्यन्तिकपाशविच्छेदाय भवत्वित्यर्थः। अत्र आवृत्तिरादरार्था। उपलभ्यते च ब्रह्माण्डपुराणे एतदुपबृंहणच्छायावाक्यम् —

अनिराकरणं ब्रह्म कारणत्वाच्चिरन्तनम् ।
अनिराकरणं मेऽस्तु धारणं देशिकोत्तम ।। इति।

तदात्मनि तस्मिन् परब्रह्मणि महेश्वरे ये धर्मा भक्तमाहेश्वररूपसर्वज्ञत्वादिधर्माः कथिताः सन्ति; 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'आनन्दो ब्रह्म', 'स एको ब्रह्मण आनन्दः', 'शान्तिसमृद्धममृतम्', 'ज्ञाऽज्ञौ द्वावजावीशाऽनीशौ', 'विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः', 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च', 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे', 'य इमान् लोकानीशते ईशनीभिः',

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।

लिङ्गस्वरूप ब्रह्म मुझे अपने पद से पृथक् न करे, अपितु [१]'भ्रमरकीट' न्याय के अनुसार अपने में अवस्थित गुणसौरभ से अपने स्वरूप को प्राप्त कराये।

'सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति ये छः परब्रह्मस्वरूप महेश्वर (शिव) में विराजमान जो छः धर्म उपनिषदों में प्रतिपादित हैं, वे उसमें आसक्त मुझ जीव में वर्तमान हों।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। प्रणवस्वरूप परब्रह्म मेरे आणव, मायीय और कार्ममलों का शमन करें।

---

१. 'भ्रमद्भ्रमरचिन्तायां कीटस्य भ्रमरत्ववत्। शिवोऽहमिति भावेन शिवो भवति च ध्रुवम्।।' अर्थात् जैसे कोई कीड़ा मँडरानेवाले भौंरे को देखकर 'भौंरा-भौंरा' यह कल्पना करते हुए भ्रमरस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्' यह ध्यान करते हुए निश्चित रूप से शिवस्वरूप होता है। अतः जीव शिव से आत्मसात् होने की, शिवाकार होने की कामना कर रहा है। वह लिङ्गस्वरूप ब्रह्म मेरा आत्यन्तिक पाशविच्छेद करे।

इत्याद्युपनिषत्सु शिवोपनिषत्सु च। एषामङ्गानां भक्तादिस्थलरूपत्वं तु —

यद्भक्तस्थलमित्याहुस्तत्सर्वज्ञत्वमुच्यते ।
यन्माहेश्वर ॱ नाम तत्तृप्तिरभिधीयते ।।

इत्यादिनोक्तं पारमेश्वरतन्त्रे। एषामेव धर्मत्वगुणत्वव्यपदेशेनापि व्यवहारः, 'सार्वज्ञ्यादिगुणान् परान्', 'स एवाहं शैवधर्मः' इत्याद्युक्तेश्च सत्त्वात्। तत्र निरते निरन्तरमासक्ते मयि ते धर्माः पूर्वोक्ताः सन्तु ।ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः — इति त्रिरुच्चारस्त्रिमलनाशार्थः।

अथवैष मन्त्र उपबृंहणानुसारेणेत्थं व्याख्येयः — स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरकर्मज्ञानेन्द्रियादौ तत् सर्वात्मकं परशिवलिङ्गम् उपनिषत्प्रतिपाद्यम्, यद् वर्तते, तद् भावादिलिङ्गरूपेण स्थित्वा = स्थूलशरीरे इष्टलिङ्गरूपेण, सूक्ष्मशरीरे प्राणलिङ्गरूपेण, कारणशरीरे भावलिङ्गरूपेण, कर्मज्ञानेन्द्रियेषु च आचारादिलिङ्गरूपेण स्थित्वा तन्मलनाशं कुरुते। तल्लिङ्गमेव तानि सर्वाणि शरीरेन्द्रियाणि प्राप्नुवन्तु। न तत्पृथग्भूतानि भवन्तु। अहं तु तल्लिङ्गं न त्यजामि किन्तु तत्पूजाध्यानधारणाशील एव भवामि। तदपि लिङ्गं मां न त्यजेत्। मम आत्मनि देहे तल्लिङ्गं निरन्तरमस्तु। सम्यगनिराकरणमस्तु। उपनिषत्सु प्रतिपादिता भस्मरुद्राक्षादिधर्माश्च मयि सन्तु। तथा चोपबृंहणानि —

सर्वं सर्वात्मकं ब्रह्म लिङ्गरूपं सनातनम् ।
तदौपनिषदं दिव्यं ममाङ्गानि विशेषतः ।।११।।
स्थूलसूक्ष्मादिदेहाश्च ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च ।
भावादिलिङ्गरूपेण स्थित्वा सर्वत्र सर्वदा ।।१२।।
आप्यायन्तु सततं परमानन्दसम्पदा ।
तदहं मा निराकुर्यां न त्यजामि कदाचन ।।१३।।

इस मन्त्र की इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है — उपनिषदों में प्रतिपाद्य सर्वात्मक परशिवलिङ्ग स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राणवायु आदि में सर्वत्र व्याप्त है। वह स्थूलशरीर में इष्टलिङ्ग के रूप में, सूक्ष्मशरीर में प्राणलिङ्ग के रूप में, कारणशरीर में भावलिङ्ग के रूप में और कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रियों में आचारादिलिङ्गरूप में रहकर वहाँ पर अवस्थित मल का नाश करता

मा मां ब्रह्म सदा लिङ्गं न त्यजेन्मा निराकरोत् ।
मे ममाऽऽत्मनि देहे तु तद् ब्रह्माऽस्तु निरन्तरम् ।।१४।।
अनिराकरणं सम्यगनिराकरणं भवेत् ।
उपनिषत्सु च ये धर्मा भस्मरुद्राक्षसंज्ञका: ।
मयि ते सन्तु ते नित्यं सन्तु ते मयि सर्वदा ।।१५।।इति।

।। इति शान्तिमन्त्र: ।।

अथेदानीमनेकजन्मानुष्ठितश्रौतस्मार्तकर्मपरिपक्वचित्तप्ररूढभक्त्युद्रेकापरपर्याय-शक्तिपातचिह्नहेतुकया, नन्द्यादिगणनायकगोत्रसञ्जातप्रथमोत्पत्तिमात्रप्राप्तवीर-माहेश्वरत्वयुक्तषट्कर्माधिकारप्रयोजकवीरमाहेश्वरदीक्षासम्पन्नगुरुकृतदीक्षया सम्पादित-लिङ्गाङ्गसामरस्याऽङ्कुरस्य शिष्यस्य, मोक्षफलकारणीभूता ब्रह्मजिज्ञासा 'केनेषितमि'-त्यादिना निर्दिश्यते। तत्रापि सुखप्रतिपत्त्यर्थं शिष्यगुरुप्रश्नप्रतिवचनम्। तत्रादौ यथैक एव राजा प्रजासामान्यप्रेरक:, तद्ग्राम्यजनप्रेरकस्त्वन्यस्तन्नियमिताधिकारी, तथा प्रश्नवाक्यघटितेषितप्रेषिताभ्याम् अन्तर्बहि:करणजातस्य प्रेरक: क:? तद्विशेषस्य च प्रेरक: क:? इति प्रश्नवाक्यं प्रवर्तते —

है। अत: जीव कामना करता है कि 'वह सर्वात्मक लिङ्गस्वरूप परब्रह्म ही सर्वत्र रहे, उससे अलग न हो। उस लिङ्ग का मैं परित्याग नहीं करूँगा। वह लिङ्ग भी मेरा परित्याग न करे। वह मेरा आत्यन्तिक पाशविच्छेद करे। उपनिषदों में भस्म, रुद्राक्ष आदि का धारण आदि वीरशैवों के लिए वर्णित धर्म मुझमें रहें।

अधिकारी शिष्य गुरु से ब्रह्मजिज्ञासा कर रहा है। उस शिष्य के चित्त में गुरु-कृतदीक्षा के कारण लिङ्गाङ्गसामरस्य का अङ्कुर प्रस्फुटित होने के कारण ही वह मोक्षदायिनी ब्रह्मजिज्ञासा कर रहा है। गुरुकृतदीक्षा से ही श्रौत और स्मार्त कर्मानुष्ठान से परिपक्व उसके चित्त में भक्ति का उद्रेक प्ररूढ हो गया है, जिसे शक्तिपात भी कहते हैं।

गुरु भी सामान्य नहीं, अपितु उस वीरमाहेश्वर (वीरशैव) दीक्षा से सम्पन्न अधिकारी पुरुष हैं, जो दीक्षा नन्दी आदि गणनायकों के गोत्र में मात्र प्रथम वार उत्पत्ति होने के कारण वीर महेश्वरत्वयुक्त षट्कर्माधिकार की प्रयोजिका है।

उस अधिकारी गुरु से दीक्षित शक्तिपातसम्पन्न अधिकारी शिष्य मोक्षफल में कारणस्वरूप ब्रह्मजिज्ञासा कर रहा है और गुरु उसका समाधान कर रहा है।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१।।

केनेषितमिति। केन करणसामान्यम् इषितं प्रेरितं भवति। इतः परं तत्तत्करणप्रेरकं पृच्छति — प्रेषितमिति। केन मनः सङ्कल्पादिरूपं प्रेषितं प्रेरितं सत् पतति स्वविषयं गच्छति। प्राणश्च प्रसिद्धः प्राणवायुः केन कर्त्रा युक्तः प्रेरितः सन्, प्रथमः इन्द्रियव्यापारात् प्राक् प्रवर्तमानत्वात् ज्येष्ठ इत्यर्थः। प्रैति तत्र तत्र गच्छति। केन च इषितां प्रेरितां वाचं वागिन्द्रियरूपां वदन्ति। चक्षुः श्रोत्रं च कः उ क एव देवः दीप्तिशीलः युनक्ति, प्रेरयतीत्यर्थः। वागिति चक्षुःश्रोत्रमिति च कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानेन्द्रियाणां चोपलक्षकम्।।१।।

इषितमित्यनेन कस्य करणसामान्यप्रेषयितृत्वम्? प्रेषितमित्यनेन कस्य करणविशेषप्रेषयितृत्वम्? इति पृष्टो गुरुः सामान्यप्रयोक्तुर्व्यापकत्वात्, मन आद्यग्राह्यत्वात् तं विहाय प्रथमतः विशेषप्रेषयितृरूपं तत्तल्लिङ्गमाह —

शिष्य के अन्तःकरण में यह जिज्ञासा जागृत हो रही है कि जिस प्रकार एक ही राजा सामान्य रूप से प्रजा को प्रेरित करता है, उसी प्रकार सामान्य रूप से इन्द्रियों को कौन प्रेरित करता है? जिस प्रकार उस राज्य में ग्रामीण, नागरिक आदि जनों को प्रेरित करने के लिए नियुक्त विशेष अधिकारी उन्हें प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार उन-उन इन्द्रियों को कौन प्रेरित कर रहा है? यह संकेत हमें मन्त्र के प्रश्नवाक्य में प्रयुक्त 'इषित' और 'प्रेषित' शब्दों से मिलता है।

अधिकारी शिष्य अधिकारी गुरु से सामान्य प्रश्न करता है — किसके द्वारा समस्त इन्द्रिय प्रेरणा प्राप्त करते हैं? 'केनेषितम्?' फिर वह विशेष प्रश्न करता है—'पतति प्रेषितं मनः केन?' (केन मनः प्रेषितं पतति?) किसके द्वारा संकल्प-विकल्पस्वरूप मन प्रेरित होकर अपने-अपने विषय की ओर अभिमुख होता है? फिर वह प्रश्न करता है— 'केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः?' (प्राणः केन युक्तः प्रथमः प्रैति?) प्राणवायु किससे प्रेरित होकर इन्द्रियव्यापार के पूर्व प्रवृत्त होने के कारण ज्येष्ठ स्थान प्राप्त करते हुए वहाँ-वहाँ विचरण करता है? 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति?' किससे प्रेरित होकर जीव इस वैखरी वाणी को बोलते हैं? 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति?' कौन दीप्तिशील नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को अपने-अपने विषय की ओर अभिमुख करते हैं? प्रस्तुत मंत्र में 'वाक्' से कर्मेन्द्रियों को और

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

श्रोत्रस्येति। श्रोत्रस्य शब्दविषयकप्रत्यक्षजनकस्य इन्द्रियस्य श्रोत्रं श्रोत्राङ्गावच्छिन्नप्रसादलिङ्गम्, 'श्रोत्राङ्गे तु प्रसादकम्' इत्युक्तत्वात्। तत् श्रोत्रेन्द्रियस्य प्रेरकमित्यर्थः।

'चक्षुः श्रोत्रम्' से ज्ञानेन्द्रियों को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार इस मंत्र का अर्थ होगा — 'कौन देव वाक् आदि कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने (शब्दादि) विषयों की ओर प्रवृत्त कर रहा है? तथा कौन देव चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने रूपादि विषय की ओर प्रवृत्त कर रहा है?'।।१।।

प्रथम मन्त्र में प्रतिपादित शिष्य की ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान इस मन्त्र में है। प्रथम मन्त्र में शिष्य गुरु से प्रश्न करता है — 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति?' 'चक्षु, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों को कौन दीप्तिशील देव प्रेरित करते हैं?' गुरु उसका समाधान इस प्रकार करते हैं — 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, चक्षुषश्चक्षुः'। श्रोत्रेन्द्रिय को उसका अधिष्ठाता श्रोत्रलिङ्ग प्रेरित करता है। उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय को उसका अधिष्ठाता चक्षुर्लिङ्ग प्रेरित करता है। श्रोत्र शब्दविषयक प्रत्यक्षज्ञान करानेवाला ज्ञानेन्द्रिय है और उसका अधिष्ठाता 'श्रोत्रलिङ्ग' अथवा 'प्रसादलिङ्ग' भी। 'श्रोत्राङ्गे तु प्रसादकम्' इस उक्ति के अनुसार श्रोत्र अथवा कर्णेन्द्रिय का शब्दविषयक प्रत्यक्षज्ञान उसमें व्याप्त उसका अधिष्ठाता 'श्रोत्रलिङ्ग' अथवा 'प्रसादलिङ्ग' कराता है। चक्षु रूपविषयक प्रत्यक्षज्ञान करानेवाला ज्ञानेन्द्रिय है और उसका अधिष्ठाता 'चक्षुर्लिङ्ग' अथवा 'शिवलिङ्ग' भी। 'दृगङ्गे शिवलिङ्गकम्' इस उक्ति के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय का रूपविषयक प्रत्यक्षज्ञान उसमें व्याप्त उसका अधिष्ठाता 'चक्षुर्लिङ्ग' अथवा 'शिवलिङ्ग' कराता है।

प्रस्तुत मंत्र में श्रोत्र और चक्षु सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों की ओर सङ्केत करते हैं। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और परिणाम ये छः सार्वकालिक पदार्थ हैं। इनमें से प्रथम पाँच क्रमशः घ्राणेन्द्रिय (नासिका), रसनेन्द्रिय (जीभ), चक्षुरिन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं।

प्रथम मन्त्र में शिष्य द्वारा प्रश्न किया गया था— 'पतति प्रेषितं मनः केन?' 'सङ्कल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणस्वरूप मन इन्द्रिय किससे प्रेरित होकर अपने

मनसः मनोरूपस्य अन्तरिन्द्रियस्य मानसप्रत्यक्षजनकस्य मनः मनोङ्गावच्छिन्नमहालिङ्गम्; 'हृदयाङ्गे महालिङ्गम्' इत्युक्तेः। वाचः वागिन्द्रियस्य वचनजनकस्य वाचं वागङ्गावच्छिन्नप्रसादलिङ्गम्। अत्र द्वितीया प्रथमात्वेन बोध्या। प्राणस्य प्रसिद्धस्य प्राणः प्राणावच्छिन्नेश्वरः प्राणलिङ्गमित्यर्थः। चक्षुषः रूपविषयकप्रत्यक्षजनकस्य चक्षुरिन्द्रियस्य चक्षुः चक्षुरङ्गावच्छिन्नं शिवलिङ्गम्; 'दृगङ्गे शिवलिङ्गकम्' इत्यभिधानात्, स उ यद् यस्मात् यस्त्वया तत्तत्करणप्रेरकः पृष्टः। स उ ईश्वरः, तत्तदङ्गावच्छिन्नलिङ्गरूप

विषय की ओर अभिमुख होता है?' इसका उत्तर अधिकारी गुरु इस प्रकार दे रहे हैं— 'मनसो मनः।' 'मनोलिङ्ग' अथवा 'महालिङ्ग' मन को मानस व्यापार के लिए प्रेरित करता है। मन अन्तःकरण भी है और उसमें व्याप्त उसका अधिष्ठाता 'मनोलिङ्ग' अथवा 'महालिङ्ग' भी। जैसा कि वचन है — 'हृदयाङ्गे महालिङ्गम्।' वही मन को मानस व्यापार की प्रेरणा देता है।

प्रथम मन्त्र में शिष्य जिज्ञासा करता है — 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति?' 'जीव किससे प्रेरित होकर वैखरी वाणी बोलते हैं?' इसका समाधान है — 'वाचो ह वाचम्।' वागिन्द्रिय को उसका अधिष्ठाता 'वाग्लिङ्ग' अथवा 'प्रसादलिङ्ग' वैखरी वाणी बोलने के लिए प्रेरित करता है। यहाँ 'वाचम्' यह द्वितीया का प्रयोग प्रथमा विभक्ति में विवक्षित है। 'श्रोत्रवाचोर्न भेदोऽस्ति' इस 'अनुभवसूत्र' के वचनानुसार यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय है और वागिन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, तथापि उन दोनों का विषय एक ही है—शब्द। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्दविषयक श्रावण प्रत्यक्षज्ञान और वागिन्द्रिय का विषय है उच्चार्यमाण शब्द (वैखरी वाणी)। अतः दोनों इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही 'प्रसादलिङ्ग' है। जब वह श्रोत्रेन्द्रिय में व्याप्त रहता है, तब उसे 'श्रोत्रलिङ्ग' कहते हैं, जो श्रावण प्रत्यक्ष कराता है। जब वह वागिन्द्रिय में व्याप्त रहता है, तब उसे वाग्लिङ्ग कहते हैं, जो उसे वैखरी वाणी बोलने के लिए प्रवृत्त करता है। इस प्रकार दोनों में अभेद है।

प्रस्तुत मंत्र में 'वाक्' पद समस्त कर्मेन्द्रियों का बोधक है। पाँच कर्मेन्द्रिय हैं — वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पाँव), पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग)।

[इस प्रकार पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ अंतःकरणस्वरूप मन इन्द्रियों के नाम से तथा उसमें व्याप्त देवता भी उन्हीं नामों से जाने-जाते हैं, जिन्हें हम 'करणलिङ्ग' भी कह सकते हैं, जो अपने-अपने इन्द्रिय को उन-उन विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं।]

इत्यर्थः। वाक्श्रोत्रेन्द्रियप्रेरकं प्रसादलिङ्गमित्युक्तं तु तयोरभेदेनेति सङ्गच्छते। उक्तं चानुभवसूत्रे श्रोत्रवाचोर्नं भेदोऽस्तीति। ननु —

आचारलिङ्गं घ्राणाख्यं भक्तस्थलसमाश्रयम्।

इत्यादिना घ्राणेन्द्रियस्यैव आचारादिलिङ्गत्वव्यपदेशात् कथं तदङ्गाङ्गिभावः? इति चेन्न; करणानां कर्तुर्घ्रेयादिपदार्थस्वीकारसाधनत्वात्, तदेकनिष्ठत्वात्, लिङ्गरूपत्वव्यपदेशात्। अन्यथा —

यथा ज्ञानेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।
तथा कर्मेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।।

इत्यनुभवसूत्रोक्तं विरुद्ध्येत। परशिवरूपोर्ध्वलिङ्गमेकमेव स्वशक्तिमहिम्ना आचारादिषड्विधलिङ्गरूपं सत् तत्तदिन्द्रियाणि प्रेरयतीति साक्षात् प्रेषयितृत्वं तत्तदङ्गावच्छिन्नलिङ्गानाम्, परम्परया तु सर्वेषामधिष्ठानं तदेकलिङ्गमेवोर्ध्वलिङ्गं भवतीत्यर्थः।

प्रथम मंत्र में शिष्य ने जिज्ञासा की थी — 'केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः?' 'समस्त इन्द्रिय व्यापार के पूर्व प्रवृत्त होने के कारण ज्येष्ठ स्थान प्राप्त करनेवाला प्रसिद्ध प्राणवायु किससे प्रेरित होकर प्राणियों को जीवनप्रदान करता है?' इसका उत्तर है — 'स उ प्राणस्य प्राणः।' प्राणवायु को प्राणलिङ्ग ही प्राणियों को जीवनप्रदान करने की प्रेरणा देता है। प्राण प्रसिद्ध प्राणवायु है और उसमें व्याप्त उसका अधिष्ठाता 'प्राणलिङ्ग' भी, जो जीवों को जीवनप्रदान करता है।

'आचारलिङ्गं घ्राणाख्यं भक्तस्थलसमाश्रयम्' इस उक्ति के अनुसार 'घ्राणलिङ्ग' अथवा 'आचारलिङ्ग' घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठाता है, जो उसे गन्धविषयक प्रत्यक्षज्ञान कराता है। उसी प्रकार रसना रसविषयक प्रत्यक्षज्ञानजनक ज्ञानेन्द्रिय है और उसका अधिष्ठाता 'गुरुलिङ्ग' भी। त्वक् स्पर्शविषयक प्रत्यक्षज्ञान करानेवाला ज्ञानेन्द्रिय है और उसका अधिष्ठाता 'चरलिङ्ग' भी। इन सभी ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता उनमें व्याप्त लिङ्गदेवता हैं, जो उन्हें अपने-अपने विषय की ओर प्रेरित करते हैं।

जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में व्याप्त अधिष्ठाता लिङ्गदेवता उन्हें उनके विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में व्याप्त अधिष्ठाता लिङ्गदेवता उन्हें उनके कर्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं। 'अनुभवसूत्र' का वचन है—

"यथा ज्ञानेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।
तथा कर्मेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।।"

यद्वा यद् वस्तु श्रोत्रस्य इन्द्रियस्य श्रोत्रं श्रोत्रावच्छिन्नप्रसादलिङ्गरूपं सत् प्रेरकं भवति। एवंरूपेण व्याख्यानं कृत्वा तद् यावत्करणप्रेरकमिति केनेषितमित्यस्य प्रतिवचनमुक्तमिति ज्ञातव्यम्। एवं ज्ञात्वा अतिमुच्य त्यक्त्वा सविषयतत्तदिन्द्रियाणां तत्तल्लिङ्गेषु समर्पणपूर्वकम् आचारादिलिङ्गं तत्तदूर्ध्वलिङ्गे विसृज्य, अर्थात् सामरस्यं प्रापय्य धीरास्तादृशाः सामरस्यविद्यारसिका गन्धादिग्राहकतत्समवायिवस्तुजातम्

अब प्रथम मन्त्र का एक ही प्रश्न अवशिष्ट रह जाता है — 'केनेषितम्?' सामान्य रूप से समस्त इन्द्रिय और प्राणवायु किससे प्रेरणा प्राप्त कर अपना-अपना कार्य सम्पादित करते हैं? इनका उत्तर पूर्वोक्त प्रश्नों के उत्तर में ही मिल जाता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन और प्राणवायु में व्याप्त लिङ्गदेवता भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अपितु परमशिव ऊर्ध्वलिङ्ग (महालिङ्ग) के विविध रूप हैं, जो उन-उन इन्द्रियों आदि में व्याप्त पृथक्-पृथक् लिङ्गरूप में रहते हुए अपनी शक्ति की महिमा से उनके-उनके विषय अथवा कर्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं।

इस वस्तुस्थिति को जाननेवाले 'सामरस्यविद्या' के अधिकारी वीरशैव भक्त उस-उस विषय को उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता लिङ्गदेवता को समर्पित करते हुए उसका भुक्तशेष प्रसाद ग्रहण करते हैं। जैसा कि 'अनुभवसूत्र' का वचन है—

'अथ गन्धो रसो रूपं स्पर्शः शब्दस्ततः परम् ।
परिणामः पदार्था हि षडेते सार्वकालिकाः ।।
एवम्भूतेषु सर्वेषु पदार्थेषु निरन्तरम् ।
लिङ्गार्पणधिया ह्यात्मा प्रसादसुखमश्नुते ।।'

घ्राणेन्द्रिय का विषय 'गन्ध' है, जिसका अधिष्ठाता है 'आचारलिङ्ग'। जिह्वा का विषय 'रस' है, जिसका अधिष्ठाता है 'गुरुलिङ्ग'। चक्षुरिन्द्रिय का विषय 'रूप' है, जिसका अधिष्ठाता है 'शिवलिङ्ग'। त्वगिन्द्रिय का विषय 'स्पर्श' है, जिसका अधिष्ठाता है 'चरलिङ्ग'। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय 'शब्द' है, जो श्रावण प्रत्यक्षज्ञान-विषय है। वागिन्द्रिय का विषय उच्चार्यमाण शब्द (वैखरी वाणी) है, जो वागिन्द्रिय का कर्म है। दोनों का अधिष्ठाता 'प्रसादलिङ्ग' है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन पाँच विषयों (पदार्थों) के अतिरिक्त अन्तिम पदार्थ है 'परिणाम'। आचारलिङ्ग, गुरुलिङ्ग, शिवलिङ्ग, चरलिङ्ग, प्रसादलिङ्ग और महालिङ्ग ये छः लिङ्गदेवता हैं और क्रमशः एक के ऊपर एक ऊर्ध्वलिङ्ग के रूप में अवस्थित हैं।

आचारादिलिङ्गं समरसीकृत्य आचारलिङ्गं गुरुलिङ्गे, तच्च शिवलिङ्गे, तदपि चरलिङ्गे, तद्धि प्रसादे, तत्तु महालिङ्गे लीनं कुर्वन्ति ये, ते धीराः, अस्माल्लोकात् पुत्रकलत्राद्युपलक्षितात् शरीरात् प्रेत्य व्यावृत्य तदभिमानं त्यक्त्वा अमृता मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ।।२।।

'लिङ्गाङ्गसामरस्य' को समझने के लिए हमें 'तत् त्वं' पदार्थ को समझना चाहिए। 'अनुभवसूत्र' का वचन है —

स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थलं तद् द्विविधं भवेत् ।
एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तमन्यदङ्गस्थलं स्मृतम् ।।
लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वंपदमीरितम् ।
संयोगोऽसिपदप्रोक्तो ह्यनयोरङ्गलिङ्गयोः ।।

वस्तुतः 'तत्' और 'त्वम्' अलग-अलग न होकर एक ही हैं, जिसे 'स्थल' कहते हैं। सृष्टि की स्थिति में उसकी विकसित शक्ति संकुचित होती है और उसमें क्षोभ होता है, उस क्षोभमात्र से वह 'स्थल' दो प्रकार का रूप लेता है—एक 'लिङ्गस्थल' और दूसरा 'अङ्गस्थल'। इस प्रकार लिङ्गस्थल से ही अङ्गस्थल का जन्म होता है। 'लिङ्गस्थल' को 'तत् पद' और 'अङ्गस्थल' को 'त्वम् पद' कहते हैं। दोनों के संयोग को 'असि-पद' कहते हैं। उसमें 'तत्' लिङ्गस्वरूप परमात्मा को सङ्केतित करता है और 'त्वम्' पद अङ्गस्वरूप जीवात्मा को। पञ्चज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता आचारादिलिङ्गदेवता अङ्गस्थल कहलाते हैं। 'महालिङ्ग' को लेकर षट्स्थलरूप परब्रह्म एक ही है। 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' का अर्थ है पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को उनके आचारादिलिङ्गदेवताओं को क्रमशः समर्पण एवं आचारादिलिङ्गों को क्रमशः अपने ऊर्ध्व अवस्थित गुरुलिङ्गादि में विलीन करते हुए अन्त में श्रोत्रेन्द्रिय और वागिन्द्रिय के अधिष्ठाता प्रसादलिङ्ग का महालिङ्ग में विलय। इसी प्रकार पञ्च कर्मेन्द्रियों, मन और प्राण का उनके अधिष्ठाता लिङ्गदेवता में विलय करते हुए सबका महालिङ्ग में विलय ही 'लिङ्गाङ्गसामरस्यविद्या' है। इसको जानने-वाले अधिकारी भक्त ऐन्द्रिय विषयों को उनके अधिष्ठाता लिङ्गदेवता को समर्पित करते हुए — आचारलिङ्ग का गुरुलिङ्ग में, गुरुलिङ्ग का शिवलिङ्ग में, शिवलिङ्ग का चरलिङ्ग में, चरलिङ्ग का प्रसादलिङ्ग में और प्रसादलिङ्ग का महालिङ्ग में जो विलय करते हैं, वे वीरशैव भक्त स्त्री, पुत्र आदि रूप में दृश्यमान इस शरीर को अपने से पृथक् कर लेते हैं। अर्थात् उनका शरीराभिमान छूट जाता है और वे अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त करते हैं, यही इस मन्त्र का तात्पर्य है।।२।।

यत्परशिवलिङ्गं परम्परया करणसामान्यप्रेरकं भवति, तत्र चक्षुरादिग्राह्यत्वमस्ति वा न वेत्याकाङ्क्षायामाह —

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।।३।।

न तत्रेति। यद् भावलिङ्गं भावग्राह्यं मन आद्यवच्छेदेन महालिङ्गादिरूपम्। तत्र भावलिङ्गे चक्षुराद्यगम्ये चक्षुः चक्षुरिन्द्रियं न गच्छति न प्राप्नोतीत्यर्थः, रूपादिविहीनत्वात्तस्य।

अब जिज्ञासा उठती है कि जो परशिवस्वरूप सबसे ऊर्ध्व में अवस्थित महालिङ्ग सामान्य रूप से सभी करणों (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, प्राण-वायु) को प्रेरणा प्रदान करता है, उसे चक्षुरादि इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान का विषय बना सकते हैं अथवा नहीं? इसी जिज्ञासा का समाधान इस मन्त्र में है।

वस्तुतः वह परशिवलिङ्ग भावलिङ्ग है, भावना के द्वारा ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है — 'न तत्र चक्षुर्गच्छति।' 'नेत्रेन्द्रिय वहाँ पहुँच नहीं पाते, उसे देख नहीं सकते। जीभ उसका स्वाद नहीं ले सकती, कान उसे सुन नहीं सकते, नाक उसे सूँघ नहीं सकती और त्वचा उसका स्पर्श नहीं कर सकती।' श्रुति कहती है—'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।' 'वह अरूप है, उसके सम्मुख रूप नहीं ठहरता। आँख से उसे कोई नहीं देखता।' इसी प्रकार वह अगन्ध, अरस, अशब्द और अस्पर्श भी है, अतः पञ्च ज्ञानेन्द्रिय उसे अपना विषय नहीं बना सकते और न उनका प्रत्यक्षज्ञान कर सकते हैं।

फिर प्रश्न उठता है — 'जिस प्रकार स्वर्ग आदि को वागिन्द्रिय का विषय बनाया जा सकता है अर्थात् वाणी के द्वारा उसका वर्णन किया जा सकता है उस प्रकार ऊर्ध्व परशिवलिङ्ग का वर्णन क्या वाणी के द्वारा सम्भव है?' इसका उत्तर है, 'नहीं, 'न तत्र वाग् गच्छति।' 'उच्चार्यमाण शब्द वहाँ तक पहुँच नहीं पाते।' वागिन्द्रिय उसे अपना विषय नहीं बना सकता, वह शाब्दबोध का विषय नहीं है। वैखरी वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। कोई भी कर्मेन्द्रिय उसे अपना विषय नहीं बना सकता—हाथ उसे पकड़ नहीं सकते, पैर वहाँ तक पहुँच नहीं सकते, त्वचा उसे स्पर्श नहीं कर सकती। यही स्थिति अन्य दो कर्मेन्द्रियों की भी है।'

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' — इति श्रुतेः। चक्षुराद्यग्राह्योऽपि स्वर्गादौ वाग्विषयत्वमिवास्तु तदूर्ध्वलिङ्गे वाग्विषयत्वं इत्यत आह 'न वागि'ति। वाक् उच्चार्यमाणः शब्दः, न गच्छति न स्वविषयं करोति, तत्र शाब्दबोधविषयो भवतीत्यर्थः, अपरिच्छिन्नत्वात् स्वातिरिक्त-संविदन्ततरवेद्यत्वे घटादिवज्जडत्वप्रसङ्गाच्च।

नन्वेवं चेत् 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रोक्तं वेदागमादिशब्दप्रमाणस्य तन्माहात्म्यप्रकाशनहेतुत्वं न स्यात्; वेदागमादिप्रमाणस्य स्वातिरिक्तत्वात्, स्वातिरिक्तवेद्यत्वे जडत्वप्रसङ्गात्, इति चेन्न; 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति' इति श्रुतेः ब्रह्माणं प्रति वेदादिशब्दजालस्योपदेष्टुर्महेश्वरस्योक्तेर्विवक्षाधीनत्वात्, इच्छायाः सविषयत्वात्।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति ।।

फिर शङ्का उठती है—'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में वेद-आगम आदि के शब्दप्रमाण को उस परमशिव तत्त्व की महिमा का प्रकाशन करने में कारण माना गया है। वह तो अपने से भिन्न प्रमाण के द्वारा ज्ञानयोग्य नहीं हो सकता। अतिरिक्त प्रमाण के द्वारा परमशिव तत्त्व को ज्ञानयोग्य मानने पर घट आदि के समान उसे भी जड मानना पड़ेगा, जब कि वह चेतनतत्त्व है। किन्तु यह शङ्का करना ठीक नहीं है। वह परमशिव तत्त्व एकमात्र वेदागमप्रमाण द्वारा ही ज्ञानगम्य है और वेद-आगम परमशिव तत्त्व से अतिरिक्त नहीं है। श्रुति कहती है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति' इस श्रुतिवचन के अनुसार वेद-आगमादि का शब्दसमूह महेश्वर की ही वाणी है, जिसका उपदेश उन्होंने सर्वप्रथम ब्रह्मदेव को दिया था। ब्रह्मदेव विद्यावंश में महेश्वर के प्रथम मानसपुत्र थे। इस प्रकार वेदवाणी महेश्वर से अतिरिक्त न होकर उनसे अभिन्न है। उक्ति वक्ता की इच्छा के अधीन होती है और इच्छा का कोई न कोई विषय रहता है।

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति ।।'

मनीषी ब्रह्मवेत्ताओं ने वाणी का चार नामों से साक्षात्कार किया है। उनमें वाणी के तीन रूप गुहा (मूलाधार चक्र) में स्थापित होने के कारण व्यक्त नहीं होते। वाणी के चतुर्थ रूप को मनुष्य अभिव्यक्त करते हैं, बोलते हैं।

इति श्रुतेरङ्कुरायमाणाऽङ्कुरित-पल्लवित-फलित-सूक्ष्मा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखर्यपरपर्यायारम्भविवक्षाध्यवसायोक्तिरूपेण स्वविमर्शशक्तिरूपतावगमात्, तस्याः स्वानतिरिक्तत्वात्, अनधिगततन्माहात्म्यलेशप्रकाशनहेतुत्वाद् वेदैकप्रमाणगम्यत्वं तल्लिङ्गस्य सिध्यति।

नन्वेवं चेत् कथं 'न वाग्गच्छती'त्युक्तं समञ्जसं भवति? इति चेद् ब्रूमः— न वाग्गच्छतीत्युक्तिस्तु स्वातिरिक्तत्वेन प्रतीयमानवाग्विषयतां ब्रह्मणो वारयति, न तु तदनतिरिक्तवाग्विषयताम्। अतिरिक्तवाग्विषयकत्वे जडत्वादिप्रसङ्गः। उक्तं च श्रीत्रिकहृदयेऽतिरिक्तप्रमाणविषयत्वं ब्रह्मणो न सम्भवतीति।

स्वपदा स्वशिरश्छायां यद् विलङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं बैन्दवी कला ।। इति।

नादब्रह्म के चार रूप हैं — (१) 'आरम्भ' — अङ्कुरणशील सूक्ष्मा वाणी, (२) 'विवक्षा' — अङ्कुरित पश्यन्ती वाणी, (३) 'अध्यवसाय' — पल्लवित मध्यमा वाणी और (४) 'उक्ति' — फलित वैखरी वाणी। यह महेश्वर की वाणी उसकी 'विमर्शशक्ति' है और उससे अभिन्न है। अतः वेद-आगमादि शब्दसमूह उससे अभिन्न होने के कारण उसकी अज्ञात महिमा का प्रकाशन करने में निमित्तहेतु हैं। इस प्रकार परमशिव तत्त्व केवल वेदागम प्रमाणों से ही जाना जा सकता है, यह सिद्ध होता है।

फिर 'न वाग् गच्छति' इस उक्ति की सङ्गति कैसे हो सकती है? यह प्रश्न उठने पर उसका समाधान यह है कि 'जो वाणी ब्रह्म से अतिरिक्त होगी, वह उस परमशिव तक नहीं पहुँच सकती, उससे अभिन्न वेदागमादि शब्दसमूहात्मक वाणी तो उस परमशिव का वर्णन करने में समर्थ है ही। जैसा कि 'श्रीत्रिकरहस्य' में वेदवाणी से भिन्न अन्य वाणी को ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है —

"स्वपदा स्वशिरश्छायां यद् विलङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं बैन्दवी कला ।।"

पराशक्ति बिन्दुरूपिणी है, परशिव नादस्वरूप है, महालिङ्ग बिन्दुनादो-भयस्वरूप है। वेदागम शब्दसमूह प्रणवस्वरूप नादब्रह्म के ही हैं, जो परशिवस्वरूप है, बिन्दुरूपिणी पराशक्ति महालिङ्ग को छोड़कर नहीं रह सकती। अतः बैन्दवी कला

उक्तं च तन्त्रालोके —

प्रकाशो नाम यश्चाऽयं सर्वत्रैव प्रकाशते ।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन् मानकल्पनैः ? ।। इति।

नो मनस्तत्र भावलिङ्गे गच्छति स्वानवच्छिन्नत्वात् तस्य ।
ननु — 'हृदा हृदिस्थं मनसा य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।'

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः',
'हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति',
'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्, मनसैवेदमाप्तव्यम्',
'बुद्ध्यालोकनसाध्येऽस्मिन् वस्तुन्यस्तमिता यदि ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।'

इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिवाक्यानामप्रामाण्यं स्यात्, इति चेत्।

अत्र केचित् —आवरणनाशार्थम् अज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्य वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकाराद् नोक्तवाक्यानामप्रामाण्यम्, फलव्याप्यत्वस्याऽनङ्गीकाराच्च। 'नो मनो', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादिवाक्यानां च नाऽप्रामाण्यम्। तदुक्तम् —

नादरूप परशिव का उल्लंघन नहीं कर सकती। यदि कोई अपने सिर की छाया का उल्लंघन अपने चरण से करना चाहे, तो ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि जिस जगह वह चरण रखेगा, तो वहाँ सिर की छाया नहीं रह सकती। यही स्थिति बैन्दवी कला की भी है। अतः वेदागम शब्दजाल, जो प्रणवस्वरूप नादब्रह्म से अभिन्न है, उसका उल्लंघन सम्भव नहीं है। परमशिव को समझने के लिए एकमात्र वेदागम शब्दराशि ही प्रमाण है, अन्य नहीं। 'तन्त्रालोक' में भी कहा है—

"प्रकाशो नाम यश्चाऽयं सर्वत्रैव प्रकाशते ।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन् मानकल्पनैः ? ।।"

सर्वत्र प्रकाशमान परमशिवस्वरूप प्रकाश गोपनीय न होने के कारण उसकी सिद्धि के लिए वेदागमप्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की कल्पना की क्या आवश्यकता है?

जिस प्रकार वाणी वहाँ तक पहुँच नहीं पाती, उसी प्रकार भावलिङ्ग तक मन भी नहीं पहुँच पाता— 'गच्छति नो मनः।' क्योंकि भावलिङ्ग का कोई परिच्छेद (सीमा) नहीं है।

फलव्याप्यत्वमेवाऽस्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।। इति।

तथा हि 'तत्त्वमस्या'दिवाक्यादखण्डार्थावबोधानन्तरम् 'अहं ब्रह्मास्मी'ति चित्तवृत्तिरुदेति, सा च यदा अज्ञानावच्छिन्नचैतन्यं चित्प्रतिबिम्बसहिता सती विषयीकरोति, तदा चैतन्यगताज्ञानं निवर्तयति। तदज्ञाननाशानन्तरं शुद्धचैतन्यं स्वयमेव प्रकाशते। तादृशाखण्डाकारवृत्त्या अज्ञानस्य नष्टत्वेऽपि तत्कार्यमवशिष्यते

फिर यह प्रश्न उठता है कि अनेक श्रुति-स्मृतियों के अनुसार उस परमात्मा का साक्षात्कार बुद्धियोग अथवा मनोयोगपूर्वक करना चाहिए। यथा — 'हृदा हृदिस्थं मनसा य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति', 'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्, मनसैवेदमाप्तव्यम्' आदि। यदि हम परमशिव का साक्षात्कार मन के द्वारा नहीं कर सकते, तब उक्त वचन अप्रामाणिक हो जायेंगे।

इसका उत्तर कुछ लोग इस प्रकार देते हैं कि वृत्ति व्याप्ति की दृष्टि से पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति-वचनों की सङ्गति ठीक लग सकती है, फलव्याप्ति की दृष्टि से नहीं। क्योंकि अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के आवरणस्वरूप अज्ञान का नाश करने के लिए वृत्ति की व्याप्ति स्वीकार की गयी है। उसके लिए मनोयोग और बुद्धियोग आवश्यक होता है। फलव्याप्ति को यहाँ स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव 'नो मनो', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि वाक्य की अप्रामाणिक न होकर प्रामाणिक ही हैं। जैसा कि कहा है—

फलव्याप्यत्वमेवाऽस्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।।

जब गुरु उपदेश देता है—'तत् त्वमसि।' 'वह परमात्मा तुम जीवात्मा ही हो।' तब शिष्य को उसका अखण्डार्थबोध होता है—'अहं ब्रह्माऽस्मि।' मैं (जीवात्मा) ब्रह्म (परमात्मा) स्वरूप हूँ। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का जब उदय होता है, तब उस चित्तवृत्ति पर 'चिति' का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे युक्त होकर वह चित्तवृत्ति अज्ञान से व्याप्त चैतन्य को जब अपना विषय बना लेती है, तब चैतन्य में अवस्थित अज्ञान को हटाती है। अज्ञान-निवारण के अनन्तर शुद्ध चैतन्य स्वयमेव प्रकाशित होता है। फिर चित्तवृत्ति अवशिष्ट नहीं रहती, वह अनित्य है।

इति चेन्न, पटोपादानतन्तुदाहे पटनाशस्येव मूलाविद्यानाशे तत्कार्यस्याखिलस्य नष्टवात्। तदुक्तम् —

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति ।।

इति वदन्ति ।

अत्र किञ्चिद् विचार्यते — ब्रह्मणः स्वातिरिक्तवृत्तिविषयत्वे घटादिवज्जडत्व-प्रसङ्गाद् अज्ञानावच्छिन्नब्रह्मणस्तत्त्वेऽपि न तद्गताज्ञानं निवर्तयति सा जडा, तयोरविरोधित्वात्।

'अविरोधितया कर्म नाऽविद्यां विनिवर्तते।'

इत्युक्तत्वात्। तादृशवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तन्निवर्तकत्वमिति चेन्न, लोहावच्छिन्न-सूच्यादेरिव तस्य तन्नाशकसामर्थ्यायोगात्। तस्मान्न सा फलवती ब्रह्मातिरिक्ता वा इति संक्षेपः।

इस प्रकार अखण्डाकार वृत्ति के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर भी उसका कार्य तो शेष रह ही जाता है इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार पट (कपड़े) के उपादानकारण तन्तु (सूत्र) के जल जाने पर पट (कपड़े) का नाश होता है, उसी प्रकार मूल अविद्या (अज्ञान) का नाश होने पर उससे समस्त कार्य का नाश होता है। जैसा कि वचन है—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति ।।

इस उत्तर के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक है। यदि ब्रह्म को उससे अतिरिक्त चित्तवृत्ति का विषय माना जाय, तब जिस प्रकार घट जड है उसी प्रकार ब्रह्म को भी जड मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में दोनों अविरोधी होने के कारण जड चित्तवृत्ति अज्ञान से व्याप्त ब्रह्म में अवस्थित अज्ञान का नाश नहीं कर सकती। 'अविरोधितया कर्म नाऽविद्यां विनिवर्तते' यह वचन इसमें प्रमाण है।

इस प्रकार की चित्तवृत्ति से व्याप्त चैतन्य अज्ञान का नाश करेगा यह मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार लौहनिर्मित सूची लोहे को नहीं काट सकती, उसी प्रकार ब्रह्माकार चित्तवृत्ति न तो अविद्यानिवारण का फल प्रदान कर सकती है और न उसे ब्रह्म से अतिरिक्त माना जा सकता है, यही सारांश है।

ननु कथं तर्हि 'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्', 'मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादिवाक्यानां सङ्गतिः, इति चेदुच्यते — 'तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गम्' इति श्रुतिसिद्धप्राणलिङ्गविषयकत्वं तेषां वाक्यानामिति ब्रूमः शिवादिधरण्यन्त-षट्त्रिंशत्तत्त्वोर्ध्वगतपरब्रह्मणो लिङ्गस्य घृतकाठिन्यन्यायेन प्राणलिङ्गरूपत्वात्, तस्य च मनोग्राह्यत्वात्।

प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं भवेत् सकलनिष्कलम् ।

इत्युक्तत्वान्न 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतिवाक्यव्याकोपः।

'यन्मनसा न मनुते' इत्यादिवाक्यानां तु निर्गुण-निष्कल-भावलिङ्ग-विषयकत्वेन सामञ्जस्याच्च न विरोधः, तस्य भावैकग्राह्यत्वात्।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।

इति श्रुतेः।

फिर 'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्', 'मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इन वाक्यों का सामञ्जस्य किस प्रकार हो? इसका उत्तर यह है कि ये सभी वाक्य उस 'प्राणलिङ्ग' के सन्दर्भ में कहे गये हैं, जिसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है— 'तत् प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गम्'। 'घृतकाठिन्य'न्याय से शिव से लेकर धरणीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के ऊर्ध्व में अवस्थित परब्रह्म लिङ्ग 'प्राणलिङ्ग' है, जिसका साक्षात्कार मनोयोग से किया जा सकता है। इस प्रकार इन श्रुति-स्मृति-वचनों की सङ्गति बैठती है। जैसा किं कहा है— 'प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं भवेत् सकलनिष्कलम्।' सकल-निष्कल उभयरूप प्राणलिङ्ग का साक्षात्कार मन के द्वारा किया जा सकता है।

'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतिवाक्यों की सङ्गति 'भावलिङ्ग' के विषय में है। इस प्रकार 'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्, मनसैवेदमाप्तव्यम्' और 'गच्छति नो मनः, यन्मनसा न मनुते' इत्यादि आपाततः परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले श्रुतिवाक्यों का सामञ्जस्य स्थापित होता है, क्योंकि इनका लक्ष्य भिन्न-भिन्न है—प्रथम श्रुतिवचनों का लक्ष्य प्राणलिङ्ग है, तो द्वितीय श्रुतिवाक्यों का लक्ष्य भावलिङ्ग।

'भावलिङ्ग' एकमात्र भाव के द्वारा जाना जा सकता है, न तो उसे चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान का विषय बना सकते हैं, न वागिन्द्रिय आदि कर्मेन्द्रिय उसे

निष्कलं भावलिङ्गं स्याद् भावग्राह्यं परात्परम् ।
सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादिति निष्ठा महात्मनाम् ।।

इत्यनुभवसूत्राच्च। न च तस्य ग्राह्यत्वे परिच्छिन्नत्वं दुर्वारमिति वाच्यम्, ईदृगिदमिति परब्रह्मणो लिङ्गस्य परिच्छेदासम्भवेऽपि — 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः', 'भावग्राह्यम्' इत्यादिश्रुत्या ग्राह्यत्वसम्भवात्। भावो नाम सत्ता, तया ग्राह्यत्वात् परशिवस्य भावलिङ्गत्वव्यपदेशः। 'अस्तीत्यारभ्यते वस्तु तत्सत्ता भाव उच्यते' इत्यनुभवसूत्रोक्तेः।

अपने कर्म का विषय बना सकते हैं और न अन्तःकरणस्वरूप मन उसे अपना मानसव्यापार विषय बना सकता है। श्रुति कहती है —

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।

भावलिङ्ग का दूसरा नाम है अनीड, जो परम शिवस्वरूप है, एकमात्र भाव के द्वारा ग्राह्य है, भाव-अभावकारक और कलामात्र की सृष्टि करता है। दीप्तिशील इस शिवस्वरूप को जो भाव के द्वारा ग्रहण करते हैं, उनका शरीराभिमान छूट जाता है। 'अनुभवसूत्र' का वचन है —

निष्कलं भावलिङ्गं स्याद् भावग्राह्यं परात्परम् ।
सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादिति निष्ठा महात्मनाम् ।।

'महात्माओं का यह विश्वास है कि भावलिङ्ग सत् (सत्ता) स्वरूप है, निष्कल (बैन्दवी कला के अतिरिक्त कलाविहीन) है, परात्पर है और एकमात्र भावग्राह्य है।' यदि हम उसे भावग्राह्य मानते हैं, तब वह परिच्छेद (सीमा) में बँध जायगा। उसकी परिच्छित्ति (सीमा) को उससे अलग नहीं किया जा सकता इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि श्रुति कहती है — 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः', 'भावग्राह्यम्'। इस प्रकार श्रुति भावलिङ्ग को भाव के द्वारा साक्षात्कार का विषय स्वीकार करती है। श्रुति कहती है— 'अस्ति वह है, इसीलिए प्राप्त करना चाहिए, भाव के द्वारा जानना चाहिए।'

'भाव' का तात्पर्य है सत्ता, अस्तित्व। अपने अस्तित्व से, अपनी सत्ता से ही ग्रहणयोग्य होने के कारण परशिवलिङ्ग को 'भावलिङ्ग' कहा गया है। क्योंकि 'अनुभवसूत्र' के अनुसार उस वस्तु की सत्ता को 'भाव' कहा जाता है, जिसका

यद्वा, भावो नाम विशुद्धचित्तं चितिशक्तिरूपम्, तेन ग्राह्यत्वात्परशिवस्य भावलिङ्गत्वेनाऽभिधानम्। तस्मात् तल्लिङ्गं चक्षुरादिबाह्यकरणेन न विद्मः, न वा अन्तःकरणेन विजानीमः। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिना य उक्तो लिङ्गाङ्गसामरस्यरूप उपायः, तमन्तरेण न विजानीम इत्यर्थः। यथा येन प्रकारेण श्रोत्रादेः श्रोत्रादिरूपं यल्लिङ्गं जातं भक्तानुग्रहार्थं तदेतदिदन्तया कथमनुशिष्यादुपदिशेत्, किन्तु पूर्वाचार्यैर्यथोपदिष्टं तथैव व्याचष्टे शृण्वित्याह तदिति। यदुक्तं षट्स्थलरूपं ब्रह्म तदित्यर्थः। विदिताद् भावत्वेन प्रतीयमानात् कारणात्मकात्, अन्यत् पृथगित्यर्थः। अथोऽपि अविदितात् सदा सत्त्वेनाऽप्रतीयमानादसतः कार्यजातात्। अधि उपरि अन्यदिति यावत्। न कारणरूपमेव सन्न कार्यरूपमेवासदित्यर्थः, "सत्यं चाऽनृतं च" इति श्रुतेः, 'सदसच्चाहमर्जुन' इति स्मृतेश्च।

नन्विदमसङ्गतम्, सत्त्वासत्त्वयोर्विरोधात्; इति चेन्न, सत्त्वासत्त्वविरोधविषयकज्ञाने तयोः सहावस्थानमिव चिज्ज्योतिषि लिङ्गे सहाऽवस्थानात्। अन्यथा तव विरोधस्फूर्तिरिव

आरम्भ 'अस्ति' इस प्रकार (उसके अस्तित्व से) किया जाता है— 'अस्तीत्यारभ्यते वस्तु तत्सत्ता भाव उच्यते ।' अथवा 'भाव' का अर्थ है चितिशक्तिस्वरूप विशुद्ध चित्त। उससे साक्षात्कारयोग्य होने के कारण परशिवलिङ्ग को 'भावलिङ्ग' कहते हैं।

उस 'भावलिङ्ग' को न तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से जानते हैं और न अन्तःकरणस्वरूप मन से। — 'न विद्मो न विजानीमः।' उसे जानने का एकमात्र उपाय है— 'लिङ्गाङ्गसामरस्य', जिसका उपदेश द्वितीय मंत्र 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि में किया गया है। उसके अतिरिक्त अन्य उपायों से उसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। 'यथैतदनुशिष्यात्।' श्रोत्रेन्द्रिय आदि के 'श्रोत्रलिङ्ग' आदि विभिन्न लिङ्गदेवता होते हैं। जो 'षट्स्थलरूप ब्रह्म' है, उसका उपदेश भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए इदमित्थं रूप से किस प्रकार सम्भव है? पूर्वाचार्यों ने जिस प्रकार उपदेश दिया है, उसे सुनो। 'अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादपि'। सामान्यतया संसार में कारणमात्र की प्रतीति सत् (भाव) रूप में और कार्यमात्र की प्रतीति असत् (अभाव) के रूप में होती है। परन्तु भावलिङ्ग न तो कारणरूप है और न कार्यरूप। परमशिव भावाभावकर है— 'भावाभावकरं शिवम्।' श्रुति कहती है— 'सत्यं चाऽनृतं च।' स्मृति कहती है— 'सदसच्चाहमर्जुन !'

सत्ता (भाव) और असत्ता (अभाव) दोनों का परस्पर विरोध होने पर इसकी सङ्गति कैसे बैठेगी? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार भाव-

न स्यात्। न स्याच्च सत्यमनृतं च, 'भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्', 'सदसच्चाहमर्जुन' इति श्रुतिस्मृत्यादेः प्रामाण्यात्।

इति इत्थमुक्तं वचनं पूर्वेषां गुरूणां शुश्रुम वयं श्रुतवन्तः। ते के गुरवः? इत्यत आह — ये इति। ये शिवतत्त्वविदः, नः अस्मभ्यं दीक्षितेभ्यः, तत् परशिवलिङ्गम्। श्रोत्रादेः श्रोत्रादिरूपं श्रोत्राद्यवच्छिन्नप्रसादादिलिङ्गरूपं सत् यद् वर्तते तदित्यर्थः। व्याचचक्षिरे उक्तवन्तः। एतेन गुरुमुखादेव स्वस्वरूपशिवलिङ्गसामरस्यज्ञानं भवति, नान्यथेति सूचितम्। सूत्रितं च शिवेनापि 'गुरुरुपायः' इति। उक्तं चानुभवसूत्रे —

'गुरूपदेशतः साध्यं नान्यथा शास्त्रकोटिभिः' इति।।३।।

प्रथममन्त्रोक्तप्रश्नवाक्यानां द्वितीयमन्त्रेण प्रतिवचनस्योक्तत्वेऽपि शिष्यबुद्धि-वैशद्यार्थम् एकैकप्रश्नस्यैकैकमन्त्रेण प्रतिवचनमुच्यते। तत्र आकारादिपरिच्छिन्नविष्ण्वादौ स्वातिरिक्तत्वेनोपासनाप्रकारो ब्रह्मबुद्धिश्च मा भूदिति श्रुतिरेव गुरुरूपेण प्रतिमाकारादि-परिच्छिन्नं न ब्रह्म, किन्तु —

अभावविषयक परस्पर विरोधी ज्ञान एक साथ रहता है, उसी प्रकार चित्स्वरूप ज्योतिर्लिङ्ग में भाव-अभाव दोनों एक साथ रहते हैं। अन्यथा विरोधप्रतीति ही नहीं हो सकती। साथ ही परशिव को भावाभावकर प्रतिपादित करनेवाले समस्त श्रुति-स्मृतियों को अप्रामाणिक मानना पड़ेगा।

'इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।' इस रहस्य को उन पूर्वाचार्यों से हम लोगों ने सुना है, जिन शिवतत्त्ववेत्ता गुरुजनों ने शक्तिपात के द्वारा दीक्षित हम शिष्यों को षट्स्थलरूप परब्रह्म का उपदेश दिया।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि गुरुमुख से ही स्वस्वरूप (अपने से, जीवात्मा से अभिन्न) परमशिव लिङ्ग के सामरस्य का ज्ञान होता हैं, अन्य उपायों से नहीं। स्वयं शिव सूत्ररूप में कहते हैं — 'गुरुरुपायः।' 'अनुभवसूत्र' में भी कहा है कि भावलिङ्ग का स्वरूप गुरूपदेश से ही सम्भव है, शास्त्र की कोटियों से नहीं— 'गुरूपदेशतः साध्यं नान्यथा शास्त्रकोटिभिः'।।३।।

प्रथम मन्त्र में की गयी शिष्य की ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान यद्यपि द्वितीय मन्त्र में किया गया है, तथापि शिष्य को विशेषरूप से समझाने के लिए स्वयं वेदमाता प्रत्येक प्रश्न का समाधान पृथक्-पृथक् मन्त्रों में कर रही है।

'तल्लिङ्गं परमं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।'

इति सिद्धान्तागमोक्तप्रकारेण तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्युपदिशति —

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

यद्वाचेति। यत्पूर्वोक्तं परशिवलिङ्गं वाचा वर्णपदादिरूपया अनभ्युदितम् अप्रकाशितम्,येन प्रसिद्धेन प्रसादलिङ्गरूपेण वाक् अभ्युद्यते तत्तदर्थे प्रकाश्यते, तदेव परशिवलिङ्गमेव ब्रह्म, 'बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयकम्' इत्यर्थः। अत एव शिवातिरिक्तस्याऽब्रह्मत्वमुक्तम्।

ननु "नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्। नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः।। नारायणपरो ध्याता ध्यानं नारायणः परः। यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि च।। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।" इत्यादि-

---

प्रथम मन्त्र में शिष्य प्रश्न करता है—'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति?' उसका समाधान द्वितीय मन्त्र में इस प्रकार है—'वाचो ह वाचम्।' उसीका विस्तार से समाधान प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है। वर्ण, पद, वाक्य आदि का जनक वागिन्द्रिय 'वाक्' कहलाता है और उसका अधिष्ठाता उसमें व्याप्त लिङ्गदेवता भी 'वाक्' ही कहलाती है, उसे 'प्रसादलिङ्ग' भी कहते हैं, जो वागिन्द्रिय को उसके वचन कर्म के लिए प्रेरित करती है। परन्तु 'तत्र न वाग् गच्छति', 'वहाँ तक वैखरी वाणी नहीं पहुँचती, वैखरी वाणी प्रसादलिङ्ग को अपना विषय नहीं बना सकती, उसका वर्णन नहीं कर सकती।'

'यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।' वह वागिन्द्रिय में व्याप्त प्रसादलिङ्ग परमशिव से अतिरिक्त न होकर परमशिव ही है, जिसे वैखरी वाणी प्रकाशित नहीं कर सकती, अपितु परमशिव ही प्रसादलिङ्ग के रूप में वागिन्द्रिय में व्याप्त होकर वागर्थ (वाणी के अर्थ) को प्रकाशित करता है। वही एकमात्र परमशिव परब्रह्म है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई परब्रह्म नहीं है।

'बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयकम्।' उसे हम ब्रह्म इसलिए कहते हैं कि वह बृहत् है, विस्तीर्ण है, जिसकी सीमा का अन्त नहीं है। 'बृंहणशक्ति' विस्तारशक्ति के कारण भी उसे ब्रह्म कहते हैं।

श्रुतिशतसत्त्वात् शिवलिङ्गातिरिक्तनारायणादेः कथमब्रह्मत्वमिति चेन्न, तत्र नारायणशब्दस्य शिवपरत्वात्। 'सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते', 'सोमः पविते जनिता पृथिव्या जनिताग्नेः जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोऽथ विष्णोः' इत्यादिश्रुतेः विष्ण्वादीनां शिवोपादानतया शिवात्मकत्वात्।

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यधिकरणे कार्यकारणयोरनन्यत्वव्यपदेशाद् नारायणादिसर्वशब्दवाच्यत्वमपि शिवस्य समञ्जसं भवति। अतस्तदुपसंहारे 'सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमः' इत्यादिना रुद्रस्य सर्वात्मकत्वमुपदिष्टम्।

किञ्च, शिवपरत्वं च —

अराः प्राह धनाभावं सुखाभावं वदन्त्यणः ।
न तौ स्यातां यस्य भक्तेः स वै नारायणः शिवः ।।

फिर प्रश्न उठता है कि

नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम् ।
नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।।
नारायणपरो ध्याता ध्यानं नारायणः परः ।
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि च ।।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।।

इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवचन परमशिवलिङ्ग के अतिरिक्त नारायण को ब्रह्म मानते हैं। उनकी संगति कैसे लगेगी? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'नारायण' शब्द का अर्थ शिवपरक है। 'सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु आदि शिव के उपादानकारण होने से शिव से अभिन्न हैं। 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस अधिकरण में कार्य-कारण को अभिन्न कहने से शिव को नारायण आदि शब्दों से सम्बोधित करना भी युक्तियुक्त है। 'सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमः' इस मन्त्र में रुद्र का उपदेश सर्वात्मा के रूप में है।

अराः प्राह धनाभावं सुखाभावं वदन्त्यणः ।
न तौ स्यातां यस्य भक्तेः स वै नारायणः शिवः ।।

नारायण शिव ही हैं और उसके अतिरिक्त अन्य देव नहीं हैं। शिव की भक्ति से न तो धन का अभाव होता है और न सुख का अभाव (दुःख)। धनाभाव को

त्वं विद्धि जानीहि। एतेन 'केनेषितां वाचमिमाम्' इत्यस्य प्रतिवचनमुक्तम्। तदेवेत्येवकारेण शिवलिङ्गातिरिक्तस्याऽब्रह्मत्वे उक्तेऽपि नेदमित्यनेन पुनरब्रह्मत्वमुच्यते।

यदिदम् आकारादिपरिच्छिन्नं विष्ण्वादिस्वातिरिक्ततया उपासते केचित्, नेदं ब्रह्म। उक्तं चेश्वरेण वसिष्ठं प्रति —

शृणु ब्रह्मविदां श्रेष्ठ देवार्चनमनुत्तमम् ।
न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः ।।
आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कृतः ।
न देवो देवरूपो हि न देवश्चित्तरूपकः ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ।।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं चिच्छिवं विदुः ।
अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।।
योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ।।

'अर' कहते हैं और सुखाभाव को 'अण'। जिनकी भक्ति करने से दोनों नहीं रहते वे शिव 'नारायण' कहलाते हैं। इस प्रकार नारायण शिव के अतिरिक्त अन्य कोई न होकर स्वयं शिव ही हैं। उनका कोई आकार आदि परिच्छेद (सीमा) नहीं है। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि', 'निर्गुण, निराकार, निष्कल, अकारादिपरिच्छेदरहित परमशिव ही ब्रह्म है, उसे तुम समझो, तुम उसका साक्षात्कार करो।'

'नेदं यदिदमुपासते', 'आकार आदि सीमा से आबद्ध ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि ब्रह्म नहीं है, जिसकी जीवात्मा उपासना करता है। ईश्वर (शिव) ने वसिष्ठ के प्रति देवोपासना को स्पष्ट करते हुए कहा है कि पुण्डरीकाक्ष, त्रिलोचन आदि देव नहीं हैं। अर्थात् कमल के समान नेत्रशील अथवा तीन नेत्रों से सम्पन्न आदि देवों की कल्पना उसको एक सीमा में ही बाँधती है। परब्रह्म, परमशिव तो निराकार हैं। उसी प्रकार मात्रचैतन्यरूप भी देव नहीं है; अपितु अकृत्रिम, स्वाभाविक अनादि अनन्त दीप्ति (तेजोविशेष) विशिष्टचैतन्यस्वरूप शिव ही देव है— 'अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं चिच्छिवं विदुः।'

इस प्रकार निर्गुण उपासना ही सर्वश्रेष्ठ है। सगुणोपासना उनके लिए है, जो निर्गुणोपासना में असमर्थ हैं, निर्गुण, निराकार परमशिवतत्त्व को जान नहीं सकते। जो जीव एक योजन नहीं चल सकता, उसके लिए कोष की सीमा निर्धारित की जाती है —

ननु लिङ्गधरस्याप्याकारसत्त्वात् कथं तद् ब्रह्म इति चेन्न, वस्तुतस्त्वाकार-शून्यत्वात्,

प्रतिमाकारशून्यस्य लिङ्गस्य परमात्मनः ।
प्रतिमाकारदेवानां सादृश्यं कथमीर्यते ।।

इत्यादिसिद्धागमोक्तेः तत्तत्परशिवलिङ्गमेव ब्रह्म, तदेवोपास्यम् ।

तस्माल्लिङ्गं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
निजरूपमिति ध्यानात् तदवस्था प्रजायते ।।
ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः सर्वे वेदादयस्तथा ।
लीयन्ते यत्र गम्यन्ते तल्लिङ्गं ब्रह्म केवलम् ।।
चिदानन्दमयः साक्षाच्छिव एव निरञ्जनः ।
लिङ्गमित्युच्यते नान्यद् यतः स्याद् विश्वसम्भवः ।।
बहुनाऽत्र किमुक्तेन लिङ्गमित्युच्यते बुधैः ।
शिवाभिधं परं ब्रह्म चिद्रूपं जगदास्पदम् ।।

इत्यादिना शिवलिङ्गस्यैव परब्रह्मत्व-तदुपास्यत्व-स्वातिरिक्तानुपास्यत्वाद्युक्तत्वात् तच्छिवलिङ्गस्यैव परब्रह्मत्वं तस्यैवोपास्यत्वं सिद्ध्यति।

ननु स्वानतिरिक्तत्वेन कथमुपासना सङ्गच्छते, उपास्योपासकभावस्य भेदघटितत्वादिति चेन्न, 'नात्मनः परदेवता' इत्युक्तेरात्मान्यदेवताया असत्त्वात्, आत्मातिरिक्तोपासनेऽनात्मत्वापत्त्या मुक्त्यसम्भवः स्यात्।

अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ।।

परमशिव लिङ्गमूर्ति होने के कारण साकार है, अतः वह निर्गुण निराकार ब्रह्म कैसे है? यह शंका उचित नहीं, क्योंकि 'सिद्धागम' के अनुसार लिङ्ग वस्तुतः प्रतिमा आदि आकार से शून्य होने के कारण उसकी तुलना साकार देवताओं से किस प्रकार की जा सकती है? अतएव केवल उसी निराकार सच्चिदानन्दस्वरूप शिवनामक परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। वह लिङ्गस्वरूप है, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु आदि देव और वेद आदि उसीमें विलय प्राप्त करते हैं—

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः सर्वे वेदादयस्तथा ।
लीयन्ते यत्र गम्यन्ते तल्लिङ्गं ब्रह्म केवलम् ।।

आत्मस्थमत्यन्तरुचिं प्रशान्तमश्रान्तमीशं हि यजन्ति सन्तः ।
तं बाह्यनानाप्रतिमासु बाह्यक्रियाभिरेवाऽल्पधियो यजन्ति ।।

इत्युक्तेः। अथ —

'यो यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इति, 'आत्मेत्येवोपासीत' इति च श्रुतेः,

'शिवोऽहमिति भावो हि शिवतापत्तिकारणम् '

इत्युक्तत्वात्,

नाशिवस्य शिवोपास्तिरिति नानाश्रुतिस्थितिः ।
शिवस्यैव शिवोपास्तिरिति नानाश्रुतिस्थितिः ।।

इत्यनुभवसूत्राच्च, 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इति श्रुत्यापि स्वानतिरिक्तत्वेनैव शिवोपासनं विधीयते।

भ्रमद्भ्रमरचिन्तायां कीटस्य भ्रमरत्ववत् ।
शिवोऽहमिति भावेन शिवो भवति च ध्रुवम् ।।

तस्मात् —

'क्रियाऽद्वैतं न कर्तव्यं भावाद्वैतं समाचरेत् ।'

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव को अपने से अभिन्न समझकर शिव की किस प्रकार उपासना करनी चाहिए? क्योंकि उपास्योपासकभाव में भेद होता है—उपास्य देवता भिन्न होती है और उसका उपासक भिन्न। किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है। श्रुति कहती है—'नात्मनः परदेवता', परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवता न होने के कारण उससे भिन्न की उपासना करने से मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि वह परमात्मा नहीं हो सकता। श्रुति कहती है—'आत्मेत्येवोपासीत', परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिए। जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग न होकर एक ही हैं। जब तक जीवात्मा परमात्मा में विलीन नहीं होता, तब तक जीवात्मा को 'शिवोऽहम्' यह भाव रखना चाहिए। श्रुति कहती है — 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्', 'जीव को शिवस्वरूप होकर, 'कीटभ्रमरन्याय' से शिवाकार होकर शिवोपासना करनी चाहिए, जिससे अन्त में एकमात्र अवशिष्ट रहेगा शिव, जीव का उसमें विलय हो जायगा।

अन्यथा सर्वाद्वैतनिरसनस्थलविरोधः स्यात्। अत एवाऽनुभवसूत्रे — 'पूजाकाले पदार्थकायः, पूजान्ते प्रसादकायः' इत्युक्तम्। तद्दृढभावनोदयपर्यन्तं स्वशक्ति-विजृम्भितशिवजीवयोः पूज्यपूजकयोर्भेदस्य पारमार्थिकस्य स्थितत्वात्, एतन्मन्त्रेण आकाराद्यवच्छिन्नविष्ण्वाद्युपसाननिषेधेन शिवलिङ्गोपासनं सूचितमिति ज्ञातव्यम्।।४।।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

यन्मनसेति। यत् परशिवलिङ्गं मनसा अन्तःकरणेन न मनुते कोऽपि जानाति, येन महालिङ्गरूपेण मनो मतं ज्ञातमाहुः कथयन्ति शिवज्ञानिनः, तदेव परशिवलिङ्गमेव

भ्रमद्भ्रमरचिन्तायां कीटस्य भ्रमरत्ववत् ।
शिवोऽहमिति भावेन शिवो भवति च ध्रुवम् ।।

पूजा के समय 'भावाद्वैत' का आश्रय लेना चाहिए। अर्थात् 'शिवोऽहम्' यह भावना रखते हुए शिवोपासना करनी चाहिए; परन्तु 'क्रियाद्वैत' का आश्रय नहीं लेना चाहिए। क्योंकि सर्वाद्वैत को स्वीकार नहीं किया गया है। क्रियाद्वैत का आश्रय लेने से उसका विरोध होगा। अर्थात् उपासना के समय उन-उन गन्धादि पदार्थों को उन-उन गन्धादि पदार्थों के रूप में ही देखना चाहिए एवं उसे शिव को समर्पित करने के पश्चात् पूजा के अन्त में प्रसाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि वचन है— 'क्रियाऽद्वैतं न कर्तव्यं भावाद्वैतं समाचरेत्।' 'अनुभवसूत्र' में भी कहा है—'पूजाकाले पदार्थकायः, पूजान्ते प्रसादकायः।' अर्थात् जब तक दृढभावना का उदय नहीं होता, तब तक संकुचितशक्ति से जीव और शिव, पूजक और पूज्य का भेद बना रहता है और भावाद्वैत से वह भेद नष्ट होने पर अन्त में एकमात्र अवशिष्ट शिव रह जाता है, जीव कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। 'आत्मस्थमत्यन्तरुचिं प्रशान्तम्', 'अथ यो यां देवतामुपास्ते', 'शिवोऽहमिति भावो हि', 'नाशिवस्य शिवोपास्तिः' इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं। अतः निर्गुण, निराकार, लिङ्गमूर्ति शिवोपासना ही श्रेष्ठ है, सगुण, साकार ब्रह्मा, विष्णु आदि की उपासना नहीं।।४।।

प्रथम मन्त्र में जिज्ञासा की गयी— 'पतति प्रेषितं मनः?', 'किससे प्रेरित होकर संकल्प-विकल्पोभयस्वरूप अन्तःकरण मन मानसव्यापार करता है?' इसका उत्तर द्वितीय मन्त्र में दिया गया— 'मनसो मनः', 'मन इन्द्रिय में व्याप्त उसका अधिष्ठाता

ब्रह्म त्वं विद्धि नेदम् इयदिदमुपासत इत्यादि व्याख्यातं प्रागेव। तत्रेदमुक्तं शिवलिङ्गस्याकारादिपरिच्छिन्नत्वाभावाद् विष्ण्वादेराकारपरिच्छिन्नत्वात् शिवलिङ्गस्यैव ब्रह्मत्वमुपास्यत्वमिति।

अनेन व्याख्यानेन मूर्तिपूजैव खण्डितेति न भ्रमितव्यम्, शिवलिङ्गस्य मूर्तिरूपत्वात्। अन्यथा वीरशैवानां शिवपूजैव न सम्भवेत्।

'मूर्त्यात्मनैव देवस्य यथा पूज्यत्वकल्पना'

इत्युक्तत्वात्, सच्चिदानन्दात्मकपरशिवस्यैव घृतकाठिन्यन्यायेन लिङ्गमूर्तित्वात्,

'प्रतिमाकारशून्यस्य लिङ्गस्य परमात्मनः'

इत्युक्तत्वात् प्रतिमाकारो निषिध्यते; 'या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशनी' इति श्रुतेः।

मनोलिङ्ग (महालिङ्ग) उसे मानसव्यापार के लिए प्रेरित करता है।' परन्तु ('तत्र गच्छति) नो मनः।' उस 'मनोलिङ्ग' (महालिङ्ग) तक मन इन्द्रिय पहुँच नहीं पाता। इसी बात को और विशद कर रहे हैं—'यन्मनसा न मनुते।' अन्तःकरणस्वरूप मन के द्वारा जो मनोलिङ्ग (महालिङ्ग) मानसव्यापार का विषय नहीं बनाया जा सकता। 'येनाऽऽहुर्मनो मतम्।' जिस महालिङ्ग के द्वारा मन इन्द्रिय को उसके विषय की ओर प्रेरित किया जाता है। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि', उसी एकमात्र परशिवस्वरूप ब्रह्म को तुम समझो और उसकी उपासना करो। 'नेदं यदिदमुपासते', ब्रह्मा, विष्णु आदि साकार देवता परशिवस्वरूप ब्रह्म नहीं है, जिसकी उपासना होती है। इस प्रकार निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना का विधान ही वीरशैवों के लिए किया गया है, सगुणोपासना का नहीं।

परन्तु इससे मूर्तिपूजा के सिद्धान्त का ही खण्डन हो गया, इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि यह कहा गया है कि — 'मूर्त्यात्मनैव देवस्य यथा पूज्यत्वकल्पना' परशिवस्वरूप दीप्तिशील ब्रह्म मूर्ति के रूप में ही पूजनीय है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमशिव 'घृतकाठिन्य'न्याय से 'लिङ्गमूर्ति' हैं और वह परमात्मा 'प्रतिमाकारशून्यस्य लिङ्गस्य परमात्मनः' इस उक्ति के अनुसार हाथ, पैर, मुख, कान, नाक आदि प्रतिमाकार नहीं होना चाहिए, केवल लिङ्गमूर्ति होना चाहिए। इस प्रकार मूर्तिपूजा का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता।

नन्वेवं चेच्छिवलिङ्गस्यापि परिच्छिन्नत्वात् कथं तस्य ब्रह्मत्वम्? इति चेन्न, तस्य सर्वस्वातन्त्र्यप्रयुक्तलिङ्गरूपत्वेऽपि नाब्रह्मत्वम्। घृतस्य कठिनतादशायामप्यघृतत्वाभाव इव परब्रह्मणः शिवस्य भक्तानुग्रहार्थमिष्टादिलिङ्गरूपत्वेऽपि नाऽब्रह्मत्वं वक्तुं शक्यते।

नेदमित्यादिना शिवलिङ्गातिरिक्तविष्ण्वादीनां शङ्खचक्रत्रिशूलादिधारिणामब्रह्मत्वमनुपास्यत्वं चोक्तम्, न तु शिवलिङ्गस्य। अन्यथाऽत्रैवोपनिषदि प्रादुर्भूतयक्षस्य लिङ्गरूपस्य 'सा ब्रह्मेति होवाच' इत्युमावाक्याद् ब्रह्मत्वनिश्चयो न स्याद् देवानाम् इति, तस्य शिवलिङ्गस्य ब्रह्मत्वोपास्यत्वप्रतिपादकव्याख्यानामनन्तत्वाच्च।

ननु चन्द्रकलादिधारिणः प्रतिमाकारविशिष्टस्य — 'शुद्धमुक्ताफलाभासमुपास्यं गुणमूर्तिभिः' इत्युपास्यत्वस्योक्तत्वात् कथं तस्य घोरमूर्तेरनुपास्यत्वं त्वयोच्यते? इति चेदुच्यते — गुणमूर्तिब्रह्माद्युपास्यत्वोक्तावपि नहि कर्मभूमौ तद्विषयकवीरशैवोपासना विधीयते, स्वकीयाधोमायाशक्तिपरिकल्पितचन्द्रकलादिविशिष्टशरीरवत्वात्। अत एव संसारपरिभ्रमणवत्वांच्च मुमुक्षुभिस्तत्स्वरूपस्यानुपास्यत्वात्। स्वयं बद्धः कथमन्यान्मोचयेत्। पाषाणावलम्बिनां समुद्रे निमज्जनमिव नीलकण्ठत्रिलोचनचन्द्रार्धशेखरस्वरूपावलम्बिनां संसृत्यब्ध्युल्लङ्घनं न स्यात्। तदुक्तम् —

परमशिव को लिङ्ग-मूर्ति मानने पर वह परिच्छेद (सीमा) में आ जायगा, ऐसी स्थिति में उसे परब्रह्म किस प्रकार स्वीकार करें? यह शङ्का उपस्थित नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार घी के जम जाने पर भी उसे 'घी नहीं है', ऐसा नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार 'घृतकाठिन्य'न्याय से भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए इष्टलिङ्ग आदि के रूप में अवतीर्ण उसे ब्रह्मातिरिक्त स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसे ब्रह्म के रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा। वह परमशिव सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है। वह अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से ही स्वेच्छया इष्टलिङ्ग आदि के रूप में अवतीर्ण होता है।

'नेदं यदिदमुपासते' इस वचन का तात्पर्य यह है कि 'शंख, चक्र, त्रिशूलधारी, ब्रह्मा, विष्णु आदि सगुण देवताओं की उपासना परब्रह्म के रूप में नहीं करनी चाहिए। एकमात्र लिङ्गमूर्ति परमशिव ही परब्रह्म और उपासनायोग्य है, तदतिरिक्त नहीं। अन्यथा इसी उपनिषद् में 'सा ब्रह्मेति होवाच' इस उमा के वाक्य के द्वारा देवताओं को यक्ष के रूप में अवतीर्ण लिङ्ग-मूर्ति परमशिव का परब्रह्म के रूप में निश्चित बोध न होता। परब्रह्म के रूप में शिवलिङ्ग की उपासना को प्रतिपादित करनेवाली अनन्त व्याख्याएँ उपलब्ध हैं।

अशरीरोऽपि सर्वत्र व्यापकोऽपि निरञ्जनः ।
आत्मा मायाशरीरस्थः परिभ्रमति संसृतौ ।। इति।

व्याख्यातं चैतत् सर्वं पदवाक्यप्रमाणज्ञेन श्रीमरितोण्टदार्येण। परापरमोक्ष-कारणीभूतशुद्धविद्याशरीरवत्त्वेनाशरीरोऽप्यपरिच्छिन्नत्वादव्यापकोऽपि दोष-रहितत्वान्निरञ्जनोऽपि कलादिक्षितिपर्यन्तत्रिंशत्तत्त्वकारणीभूतस्वक्रियाधोमाया-शक्तिपरिकल्पितचन्द्रकलादिविशिष्टशरीरवान् सन् संसारे परिभ्रमतीत्यर्थः।

यद्यपि तत्र तत्र नीलकण्ठत्रिलोचनत्वादिविषयरूपोपासनं चोक्तम्, उपनिषद्यपि 'हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धम्' इत्युपक्रम्य

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्'

इत्यन्तेन चिज्ज्योतीरूपान्तर्लिङ्गस्यापि त्रिलोचनत्वादिकमुक्तम्, तथापि तत्स्वरूपं न स्वाभाविकं किन्तु मायिकम्।

अब फिर प्रश्न उठता है कि चन्द्रकला आदि धारण करनेवाली शिवप्रतिमा की उपासना का विधान इन शब्दों में किया गया है—'शुद्धमुक्ताफलाभासमुपास्यं गुणमूर्तिभिः' फिर उसका निषेध क्यों? इसका उत्तर यह है कि चन्द्रकलादिविशिष्ट शिव की साकारमूर्ति उसकी अपनी मायाशक्ति से परिकल्पित होती है, उसके उपासक संसारचक्र में विचरण करते हैं। मुमुक्षुओं के लिए वे उपासनायोग्य नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा स्वयं मायिक शरीर में अवस्थित रहकर संसारचक्र में विचरण करते हैं —

अशरीरोऽपि सर्वत्र व्यापकोऽपि निरञ्जनः ।
आत्मा मायाशरीरस्थः परिभ्रमति संसृतौ ।।

जो स्वयं बन्धन में है, वह दूसरे को कैसे मुक्त कर सकता है? जिस प्रकार पत्थर बाँधकर कोई समुद्र में तैर नहीं सकता, उसी प्रकार सगुणोपासक संसार-सागर का संतरण नहीं कर सकता।

यद्यपि अनेक श्रुतिवचन परमात्मा की साकार उपासना का प्रतिपादन करते हैं। यथा—'हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धम्' यहाँ से प्रारम्भ कर 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्' तक के श्रुतिवचनों में चितिज्योतिःस्वरूप परमशिव को त्रिलोचन, नीलकण्ठ आदि कहा गया है। परन्तु उसका यह साकार रूप स्वाभाविक न होकर मायिक है।

निष्कलं च निराकारं परं ब्रह्म शिवाभिधम् ।
निर्ध्यातुमसमर्थोऽपि तद्विभूतिं विभावयेत् ।।

इत्युक्त्या सच्चिदानन्दलिङ्गध्यानासमर्थेन लिङ्गे तन्मायाकल्पितं स्वरूपं परिकल्प्य उपासनीयमिति श्रुतेस्तात्पर्यम्। अन्यथा —

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याच्चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।।

इत्यनुभवसूत्राद्युक्तं विरुध्येत।।५।।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

निष्कलं च निराकारं परं ब्रह्म शिवाभिधम् ।
निर्ध्यातुमसमर्थोऽपि तद्विभूतिं विभावयेत् ।।

वस्तुत: निष्कल, निराकार शिवनामक परब्रह्म का ध्यान करना सम्भव नहीं है। अत: उसमें असमर्थ भक्त को भी उसके आकार की कल्पना करते हुए उसकी उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार सच्चिदानन्द, निष्कल, निर्गुण, निराकार लिङ्गमूर्ति का जो ध्यान नहीं कर सकता, उसके लिए मायाकल्पित स्वरूप की परिकल्पना की गयी है। अन्यथा 'अनुभवसूत्र' में प्रतिपादित परमशिव का सच्चिदानन्दरूप असङ्गत होगा —

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याच्चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।।

परमशिव का भावलिङ्ग सद्रूप है, प्राणलिङ्ग चिद्रूप है और आचार्यों ने उनके आनन्दरूप को इष्टलिङ्ग के रूप में वर्णित किया है।।५।।

'चक्षु: क उ देवो युनक्ति?' प्रथम मन्त्र के इस प्रश्न का समाधान है— 'चक्षुषश्चक्षु:।' परन्तु 'न तत्र चक्षुर्गच्छति।' इसीका विशद उत्तर इस मन्त्र में है।

किस देवता से चक्षुरिन्द्रिय प्रेरित होता है? इस प्रश्न का समाधान है— 'चक्षुर्लिङ्ग' (शिवलिङ्ग) से चक्षुरिन्द्रिय प्रेरित होता है, अर्थात् रूपविषयक प्रत्यक्षज्ञान करता है। परन्तु चक्षुरिन्द्रिय उसका साक्षात्कार नहीं करता। मनुष्य

यच्चक्षुषेति। परशिवलिङ्गं चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण न पश्यति नावलोकयति जनः। येन शिवलिङ्गरूपेण चक्षूंषि चक्षुरिन्द्रियम्। बहुवचनं छान्दसम्। पश्यति रूपग्राहकं भवति। तदेवेत्यादिकं पूर्वमुक्तार्थम्। एतेन चक्षुः क उ देवो युनक्तीत्यस्योत्तरमुक्तम्।।६।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं स्मृतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।७।।

यच्छ्रोत्रेणेति। यत्परशिवलिङ्गं श्रोत्रेण श्रोत्रेन्द्रियेण न शृणोति जनः। तत्र श्रावणप्रत्यक्षविषयं भवतीत्यर्थः। येन प्रसादलिङ्गरूपेण इदं कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रं श्रोत्रेन्द्रियं श्रुतं शब्दग्रहणसमर्थं भवति। तदेवेत्यादिकं पूर्वमुक्तार्थम्। एतेन श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीत्यस्य प्रतिवचनमुक्तम्।।७।।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।८।।

।। इति प्रथमः खण्डः ।।

चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा जिसका साक्षात्कार नहीं कर सकते, परन्तु जो चक्षुरिन्द्रिय को रूपग्राहक बनाता है, वह शिवलिङ्ग (चक्षुर्लिङ्ग) स्वरूप अवतीर्ण परशिव ही एकमात्र परब्रह्म है, ब्रह्मा, विष्णु आदि साकार देव नहीं, जिनकी अज्ञानवश उपासना होती है।।६।।

'श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति?' इस प्रश्न का समाधान है—'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्।' परन्तु 'न तत्र वाग् गच्छति।' इसीका विशद समाधान इस प्रकार है—'कौन देव श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दविषयक प्रत्यक्षज्ञान के लिए प्रेरित करता है?' इसका उत्तर है—'श्रोत्रलिङ्ग (प्रसादलिङ्ग) श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दविषयक श्रावण प्रत्यक्षज्ञान के लिए प्रेरित करता है। परन्तु शब्द वहाँ तक पहुँच नहीं पाते, उसे सुन नहीं पाते।'

श्रोत्रेन्द्रिय से जिसे सुना नहीं जा सकता, परन्तु जिसके द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय शब्द विषयक श्रावण प्रत्यक्षज्ञान के लिए प्रेरित किया जाता है, श्रोत्रलिङ्ग (प्रसादलिङ्ग) के रूप में अवतीर्ण वह परशिव ही एकमात्र परब्रह्म है, तदतिरिक्त साकार विष्णु आदि देव नहीं, तुम (जीव) अज्ञानवश जिनकी उपासना करते हो।।७।।

'केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः?' इस प्रश्न का समाधान है — 'स उ प्राणस्य प्राणः।' इसीका विशद उत्तर इस मन्त्र में है।

यत्प्राणेनेति। यत्परशिवलिङ्गं प्राणेन न प्राणिति न प्राणनं करोति, येन प्राणलिङ्गरूपेण प्राणः प्राणापानादिपञ्चवृत्तिरूपः शरीरधारणरूप एव स्वव्यापारं विदधाति, तदेवेत्यादिकं पूर्ववद् बोध्यम्।

'प्राण एव मनुष्याणां देहधारणकारणम्'

इत्युक्तेः,

तदाधारः शिवः प्रोक्तः सर्वकारणकारणम् ।
निराधारः शिवः साक्षात् प्राणस्तेन प्रतिष्ठितः ।।

इति सिद्ध्यति ।।८।।

अथ प्रथमखण्डसंक्षेपः

अत्र प्रथमद्वितीयमन्त्राभ्यां केनेषितमित्यादिप्रश्नवाक्यात् श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युत्तरवाक्याच्च प्रेरयितरि शक्तिविशेषाभावे प्रेषयितृत्वमनुपपन्नम् इत्यतस्तस्य सविशेषत्वमुक्तम्।

किस देवता के द्वारा इन्द्रियव्यापार से प्रवर्तित होने के कारण ज्येष्ठतम स्थान को प्राप्त करनेवाला प्रसिद्ध प्राणवायु प्राणियों को जीवन-प्रदान करता है? इसका उत्तर है प्राणलिङ्ग ही प्राणियों में प्राणसञ्चार करता है।

प्राणवायु जिसे संचालित नहीं करता, अपि तु जिसके द्वारा प्राणवायु प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान इन पञ्चप्राणशरीर के रूप में प्राणियों में जीवनसञ्चार होता है, प्राणलिङ्ग के रूप में अवतीर्ण वह परशिव ही परब्रह्म है, तदतिरिक्त नहीं, जिनकी उपासना होती है।

कहा भी है — 'प्राण एक मनुष्याणां देहधारणकारणम्।' और भी —

तदाधारः शिवः प्रोक्तः सर्वकारणकारणम् ।
निराधारः शिवः साक्षात् प्राणस्तेन प्रतिष्ठितः ।।८।।



प्रथमखण्ड का निष्कर्ष : 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' का अर्थ है परमशिवलिङ्गस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त साकार ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देव ब्रह्म नहीं हैं। शक्तिविशिष्ट ब्रह्म ही एकमात्र ब्रह्म है, जो श्रोत्रेन्द्रिय आदि में व्याप्त होकर षट्लिङ्गस्थल के

किञ्च, द्वितीयमन्त्रेण स्वकीयशक्त्या श्रोत्राद्यवच्छिन्नषड्लिङ्गस्थलरूपं जातं सत् श्रोत्रादिकं प्रेरयतीत्युक्तम्। उक्तं च तल्लिङ्गाङ्गसामरस्यज्ञानिनां धीराणां मुक्तिप्रयोजनम्। तृतीयमन्त्रेण तु वाङ्मनसाद्यगोचरत्वमुक्तम्। न तु सामान्यतोऽविषयत्वम्, 'अवाङ्मनसगोचरम्' इति ज्ञानस्यैव विषयत्वात्।

यत्तु निर्विशेषमेव ब्रह्म स्वसान्निद्ध्यमात्रेण प्रेषयितुः प्रभवतीति प्रश्नस्योपपन्नत्वान्निर्विशेषस्य मुमुक्षुविजिज्ञास्यत्वं युक्तमित्याहुः, तत् तुच्छम्, अत्र तद्बोधकस्य कस्यचित्पदस्याभावात् तत्सत्त्वे मानाभावात्, श्रुतेर्मानत्वे च तस्य जगदन्तःपातित्वेन तत्प्रतिपाद्यब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वापत्तेः। वेदसत्यत्वाङ्गीकारेऽद्वैतहानिः, तदसत्यत्वे सत्प्रमाणान्तराभावाद् वन्ध्यापुत्रवद् ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वं स्यात्। न च सान्निध्यमात्रेण प्रेरयितृत्वं सम्भवति, ब्रह्मातिरिक्तस्याभावात् तत्सान्निध्यस्यैवासम्भवात्, स्वगतसजातीयविजातीयभेदरूपविशेषस्यैवानङ्गीकारात्।

रूप में अपने विषय एवं क्रियाकलाप की ओर प्रेरित करता है। अतः वीरशैवदर्शन 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' दर्शन कहलाता है। अतः 'केनोपनिषद्' की जिज्ञासा का विषय शक्तिविशिष्ट ब्रह्म ही है, निर्विशेष ब्रह्म नहीं। अपनी उपस्थितिमात्र से निर्विशेष ब्रह्म इन्द्रियादि का प्रेरक होता है, अतः वही जिज्ञासा का विषय है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि उसका बोधक कोई पद प्रमाणस्वरूप उपलब्ध नहीं है।

श्रुति को प्रमाण मानने पर 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इस सिद्धान्त की दृष्टि से श्रुति का अन्तर्भाव यदि जगत् के अन्तर्गत माना जाय, तो उसके प्रतिपाद्य ब्रह्म को भी मिथ्या मानना पड़ेगा। श्रुति या वेद को सत्य स्वीकार करने पर अद्वैतहानि होगी; उसको असत्य मानने पर जिस प्रकार वन्ध्यापुत्र मिथ्या है, अर्थात् वन्ध्या को पुत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसके प्रतिपाद्य ब्रह्म को भी मिथ्या मानना पड़ेगा। निर्विशेष ब्रह्म की उपस्थितिमात्र प्रेरक नहीं होगी, ऐसी स्थिति में ब्रह्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे के अस्तित्व को सत्य मानना पड़ेगा, तभी उसकी उपस्थिति भी उसके निकट हो सकती है, अन्यथा नहीं। परन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त की कल्पना भी नहीं की जा सकती, अतः उसकी उसके निकट सन्निधि भी असम्भव है। क्योंकि उसमें अवस्थित सजातीय-विजातीय आदि भेद को ही स्वीकार नहीं किया गया है।

निर्विशेष ब्रह्म को 'केनोपनिषद्' की जिज्ञासा का विषय मानने पर 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में उपलक्षित ब्रह्म का लक्षण असंगत होगा। अतः सर्वशक्तिविशिष्ट

किञ्चास्य निर्विशेषत्वे 'जन्माद्यस्य यत:' इति सूत्रोक्तब्रह्मलक्षणमसङ्गतं स्यात्। तस्मादत्र सर्वशक्तिकमेव ब्रह्म प्रश्नविषयीभूतम्। अत एव प्रतिवचने 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्युक्तं सङ्गच्छते। अन्यथा श्रोत्रादिरूपेण श्रोत्रेन्द्रियादिरूपत्वं चासङ्गतं स्यात्।

न च 'निर्गुणम्', 'निरञ्जनम्', 'निष्कलम्', 'निष्क्रियम्', 'शान्तम्' इत्यादि-निर्विशेषप्रतिपादकवाक्यानां विरोध इति वाच्यम्, तेषां प्राकृतहेयगुणादिराहित्य-विषयकत्वात्।

ननु ज्ञानाद्याश्रयत्वे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिना ज्ञानस्वरूपता तस्य कथं सङ्गच्छते? इति चेन्न, ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञानाश्रयत्वात्। 'चैतन्यमात्मे'ति शिवेन सूत्रित्वात्। प्रभानतिरिक्तस्य ज्ञानाश्रयत्वमित्यङ्गीकरणीयत्वात्। सिद्धोक्तं च —

'अदृश्यं नेत्रवद् ब्रह्म द्रष्टृत्वं चास्ति नेत्रवत्' इति।

श्रुतयश्च तस्य ज्ञातृत्वं वदन्ति — 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा:', 'तदैक्षत सेयं देवतैक्षत', 'य: सर्वज्ञ: स सर्ववित्' इति, 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति च। तदुक्तं विज्ञानभैरवे —

ज्ञानं प्रकाशकं लोके आत्मा चैव प्रकाशक: ।
अनयोरपृथग्भावात् ज्ञाने ज्ञानी प्रकाशते ।। इति।

ब्रह्म ही प्रश्न का विषय है, निर्विशेष ब्रह्म नहीं। 'निर्गुण', 'निरञ्जन' आदि ब्रह्म का वर्णन प्राकृत हेय गुणादि के अभाव को सूचित करता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में प्रतिपादित ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ज्ञानादि का आश्रय भी है, क्योंकि जो ज्ञानस्वरूप होता है, वही ज्ञानाश्रय भी होता है। इसमें 'शिवसूत्र' का वचन प्रमाण है—'चैतन्यमात्मा'।

'अदृश्यं नेत्रवद् ब्रह्म द्रष्टृत्वं चास्ति नेत्रवत्'

यह सिद्धोक्ति तथा 'विज्ञानभैरव' का यह वचन भी प्रमाण है—

ज्ञानं प्रकाशकं लोके आत्मा चैव प्रकाशक: ।
अनयोरपृथग्भावात् ज्ञाने ज्ञानी प्रकाशते ।।

'ज्ञानं च भवतो भिन्नं ज्ञेयं ज्ञानात् पृथङ् न हि।' यह वचन तथा अन्य श्रुति-स्मृति-आगमवचन प्रमाण हैं।

उक्तं चान्यत्र —

नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपादहं स्वरूपोऽस्मि चिदेकरूपः ।
प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।।

प्रकाशमाने परमार्थभानौ नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।
तदा बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि किञ्चिन्न पश्यन्ति भवप्रपञ्चम् ।। इति,
'ज्ञानं न भवतो भिन्नं ज्ञेयं ज्ञानात् पृथङ् नहि' इति च।

यत्कार्यं यदधीनं तत्तदात्मकमेव, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घटपटाविति व्याप्तेः कार्यस्य बाह्यकरणाधीनत्वात्, तस्यान्तःकरणाधीनत्वात्, तस्य कृत्रिमप्रमात्रधीनत्वात्, अत एव 'चिन्मयात्मे'ति सूत्रितत्वात्, तस्य देशकालादि स्वतन्त्रशक्तिकं चित्परकर्तारं विना कस्यचिदुन्मेषासम्भवात्, भावादेर्विश्वस्य परप्रमातृनिष्ठतया तत्स्वरूपत्वाभ्युपगमाद् ज्ञानादेरपि वृत्तेः परमज्ञातृभिन्नत्वं सुतरां सिद्धमित्यास्माकीना शिवाद्वैतसिद्धान्तपद्धतिः।

"यत्र हि द्वैतमिव भवति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" इति भेदनिषेधप्रतिपादकवाक्यानां तु —

यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम् ।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः ।।

'यत् कार्यं यदधीनं तत्तदात्मकमेव यन्नैवं तन्नैवम् यथा घटपटौ' इस व्याप्ति के अनुसार जो कार्य जिस (कारण) के अधीन होता है, वह उसी स्वरूप का होता है। यदि वह कार्य उस प्रकार का नहीं है, तो वह कारण भी उस प्रकार का नहीं होगा। जैसे घट और पट। मिट्टी से घड़ा बनता है, सूत से कपड़ा बनता है। घड़ा मिट्टी से अलग नहीं है और कपड़ा सूत से अलग नहीं है। इस व्याप्ति को देखते हुए यह सिद्ध है कि कार्य बाह्यकरणों के अधीन होता है। बाह्यकरण अन्तःकरण के अधीन होते हैं। अन्तःकरण कृत्रिम प्रमाता के अधीन होता है। कृत्रिम प्रमाता देशकालादिस्वतन्त्रशक्तिविशिष्ट ब्रह्म के अधीन होता है, जिसके बिना किसीका भी उन्मेष सम्भव नहीं है, कोई कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि भावादिविश्व परमप्रमाता से अभिन्न होने के कारण परमप्रमाता का स्वरूप जानने पर ही विश्व का स्वरूप जाना जा सकता है। इस प्रकार परमज्ञाता एवं ज्ञानादिवृत्ति का भेद सुतरां सिद्ध है।

इत्युक्तप्रकारेण सर्वस्य विश्वस्य ब्रह्मकार्यतया तदभिन्नत्वेनैक्यप्रतिपादकत्वम्, न तु स्वगतभेदनिराकरणपरत्वम्। तस्मादत्र प्रश्नविषयीभूतं सर्वशक्तिकं परब्रह्म लिङ्गमेवेति संक्षेपः।

।। इति श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वर-सिद्धलिङ्गशिवाचार्यास्थानपण्डित-शङ्करशास्त्रिविरचिता केनोपनिषत्प्रथमखण्डस्य शाङ्करीव्याख्या समाप्ता ।।

***

यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम् ।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः ।।

जिस प्रकार मिट्टी से उत्पन्न घड़ा मिट्टी से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उस परमलिङ्गस्वरूप महादेव से उत्पन्न विश्व को उस परब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता, यह पारमार्थिक सत्य है, तथापि विश्व में वर्तमान देशकालादि भेद परमात्मा की स्वातन्त्र्यशक्ति का विषय होने के कारण उस भेदज्ञान को पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः 'केनोपनिषद्' का प्रश्नविषय सर्वशक्तिविशिष्ट ब्रह्म ही है और यही शिवाद्वैतसिद्धान्तपद्धति है।

इस प्रकार उज्जयिनी सद्धर्मसिंहासनाधीश्वर श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य के आस्थान (सभा) पण्डित शङ्करशास्त्री द्वारा विरचित केनोपनिषद् प्रथम खण्ड की व्याख्या पूर्ण हुई।।

।। प्रथम खण्ड सम्पूर्ण ।।

***

द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।।१।।

यदीति। यदि त्वं मनआदीनां साक्षात् प्रेरकत्वेनोक्तं ब्रह्म सुवेद सुखेन अनायासेन मानसादिविषयतया जानामीति मन्यसे, तर्हि नूनं निश्चितं अस्य ब्रह्मणः अपरिच्छिन्नस्य यद्रूपं महालिङ्गाद्याचारलिङ्गान्तं षट्स्थलान्यतमं तद् दभ्रमेव अल्पमेव परिच्छिन्नमेव त्वं वेत्थ।

परं ब्रह्म महालिङ्गं प्रपञ्चातीतमव्ययम् ।
तदेव सर्वभूतानामन्तस्त्रिस्थानगोचरम् ।।
मूलाधारे च हृदये भ्रूमध्ये सर्वदेहिनाम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं सदा भाति यद् ब्रह्मेत्याहुरागमाः ।।

गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं — 'यदि तुम यह समझते हो कि मैंने अनायास ही ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार किया है, उसे समझा है; जो श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पञ्च कर्मेन्द्रियों, अन्तःकरणस्वरूप मन तथा पञ्चप्राणवृत्ति प्राण शरीर में व्याप्त होकर महालिङ्गादि आचारालिङ्गान्त षट्स्थलों में अन्यतम रूप का साक्षात्कार किया है; तुम निश्चित ही उसके परिच्छिन्न, आंशिक स्वल्प स्वरूप को जानते हो।

क्योंकि वह परशिवलिङ्ग महालिङ्ग प्रपञ्च से परे और अव्यय, अपरिच्छिन्न तथा अव्यक्त है। वही सनातन लिङ्गस्वरूप ब्रह्म निर्विकल्पक निर्विशेष होने के कारण भक्त उसकी उपासना नहीं कर सकते, अतः सभी प्राणियों के तीन स्थानों में वह ज्योतिर्लिङ्ग अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति अथवा मायाशक्ति से तीन लिङ्गों के रूप में प्रकट होता है — मूलाधार में, हृदय में और भ्रूमध्य में। इसके अतिरिक्त षट्स्थलरूपों में भी वह आविर्भूत होता है। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रियादि परिच्छिन्न

अपरिच्छिन्नमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्म सनातनम् ।
उपासनार्थमन्तःस्थं परिच्छिन्नं स्वमायया ।।

इत्युक्तप्रकारेण अपरिच्छिन्नाव्यक्तस्यैकस्यैव परशिवलिङ्गस्य उपासकध्यानपूजार्थं स्वस्वातन्त्र्यापरपर्यायोर्ध्वमायाशक्त्या लिङ्गत्रयरूपत्वात् षट्स्थलरूपवत्वाच्च चक्षुरादिग्राह्यत्वम्। अत एव भवता विदितं रूपं परिच्छिन्नमेवेति ज्ञायते। एतत्परिच्छिन्नाचारादिलिङ्गानतिरिक्तेष्टलिङ्गज्ञानस्य तत्तद्ब्रह्मादिपदवीप्रापकत्वेऽपि न तु परमुक्तिरित्यर्थः। अथ च त्वमिव देवेषु यः कश्चित् सुवेदेति मन्यतेऽस्य ब्रह्मणो रूपं यत् तदत्यल्पमेव स वेत्ति। तस्मादेव ते त्वया चक्षुरादिना ज्ञातुं मीमांस्यं विचारणीयं नु खलु।।१।।

एवमाचार्येणोक्तो निरुपद्रवस्थलमुपगम्य पूर्वोक्तम् —

'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि' (के० उ० १.३)

इत्याचार्यवचनमर्थतः श्रवणमननादिना निश्चित्य गुरुमुपगम्याह —

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ।।२।।

आचारादिलिङ्ग अपने इष्टलिङ्ग से अभिन्न हैं यह ज्ञान होने पर उस-उस ब्रह्मपद को तुम प्राप्त कर सकते हो, परन्तु उससे परा मुक्ति नहीं मिल सकती। तुम्हारे समान ही यदि अन्य कोई शिवातिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु आदि को परब्रह्म समझता है, तो वह भी ब्रह्मस्वरूप को अंशतः ही जानता है। अतएव चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा तुमने जिसे समझा है, उसकी मीमांसा आवश्यक है'।।१।।

गुरु के द्वारा इस प्रकार शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने पर शिष्य 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इस मंत्र के 'अन्यदेव तद् विदितादथोऽविदितादधि' इस आचार्य-वचन के अर्थ को श्रवन-मनन आदि के द्वारा निश्चित करते हुए गुरु के समीप जाकर कहता है—

'गुरो! परमशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म, जो अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए षट्स्थल रूप में अवतीर्ण होता है, मैं अनायास ही चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसका साक्षात्कार करता हूँ ऐसा मैं नहीं समझता। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा घट, पट आदि और उसके अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान किया

नाहं मन्ये इति। यदेतदेव वस्तु स्वातन्त्र्यस्वलीलादिना भावाभावप्रपञ्चरूपं भक्तानुग्रहार्थं षट्स्थलरूपं वर्तते तदहं सुवेदेति। सुखेन अनायासेन चक्षुरादिना घटतदभाववद् वेदेति नैव मन्ये। घटतदभावयोर्हि ज्ञानं तयोर्निश्चिताभ्यां भावत्वाभावत्वाभ्यां भवितुं शक्यम्। न च तथा भावाभावकब्रह्मणो ज्ञानम्। यदि भावत्वेन तस्य ज्ञानम्, तदपि रूपं दभ्रमेव, न सम्पूर्णम्। यदि च अभावत्वेन तदपि तथैवेत्याह गुरुरिति ज्ञात्वाह शिष्यः 'नाहं मन्ये'इति।। तथा च नैव त्वं ब्रह्मज्ञानवान् इति गुरुणा उक्ते शिष्यः पुनराह — 'नो न वेदेति वेद चे'ति। नो न वेदेति किन्तु वेद च वेदैवेत्यर्थः।

नन्विदं कथमुपपन्नं भवति? यस्याज्ञायमानत्वं तस्यैव ज्ञायमानत्वमिति चेदुच्यते — परशिवलिङ्गस्य सर्वात्मकत्वात् सदसतोर्दृश्यमानत्वात् तज्जनकस्य तदात्मकत्वाद् जगज्जन्मादिकारणत्वेनैव परशिवलिङ्गं ज्ञातव्यम्, सूत्रकृता दर्शितत्वात्, जगतो भावाभावरूपस्य जन्मदायिनस्तस्य भावाभावत्वस्य सुतरां सिद्धत्वाद् भावाभावरूपं परशिवलिङ्गमिति वेदैव। तस्माद् ज्ञायमानत्वं तस्यैकेन भावत्वेनैकेना-भावत्वेन वा न वेद। तस्मादज्ञायमानत्वमपि। अतो 'नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च' इत्यनयोर्वाक्ययोर्न परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वम्।

अत्र प्रथमवाक्येन द्वितीयवाक्येन च 'अन्यदेव तद्विदितादि'त्याचार्योक्तार्थो दर्शितः। अहमिव नः शिष्याणां मध्ये यस्तदाचार्योक्तं संशयविपर्ययादिराहित्येन

जा सकता है, परमशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म का नहीं। यदि परशिवलिङ्ग का भावरूप में साक्षात्कार किया जाय तो वह आंशिक होगा, उसी प्रकार अभावरूप में किया जाय तो वह भी आंशिक ही होगा। साथ ही यदि आप समझते हैं कि मुझे जरा भी ब्रह्मज्ञान नहीं है तो वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि मैं ब्रह्मस्वरूप को जानता हूँ।

फिर यह शंका होती है कि ब्रह्मज्ञान और उसका अभाव दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? इसका समाधान यह है कि परशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म सर्वात्मक है, क्योंकि सत्ता (भाव) और असत्ता (अभाव) दोनों का ही अनुभव किया जा सकता है। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र के अनुसार परशिवलिङ्ग जगत् के जन्म आदि का कारण है और भावाभावस्वरूप जगत् का जन्मदाता है, अतः परमशिवलिङ्ग भी भावाभावस्वरूप है यह सुतरां सिद्ध है। अतः ब्रह्म ज्ञेय भी है और अज्ञेय भी। इस प्रकार प्रथम दो चरण परस्परविरुद्ध नहीं हैं, उनकी संगति बैठती है।

वेद जानाति, स तत् सर्वात्मकं परं ब्रह्म लिङ्गं वेद। सोऽपि नो वेदेति न, किन्तु वेद च वेदैव। इदं च परशिवलिङ्गं पराहन्तास्पदं भवति, न त्वत्यन्तमेवाहङ्कारानास्पदमिति ज्ञापनार्थम्।।२।।

शिवो भोक्ता शिवो भोग्यं शिवो भोगः शिवोऽखिलम् ।
शिव एव शिवोऽहं तु तस्मादन्यन्न विद्यते ।।

इत्युक्तप्रकारेण सदसद्विश्वात्मकः शिवोऽहमिति भावदार्ढ्ये सन्त्यक्तदेहकलत्रपुत्राद्यभिमानस्य सर्वविश्वं स्वदेहं मन्यमानस्य भक्तस्य —

'नरः स्वदेहकण्डूतिं विजानाति यथा तथा।'

(इति नयेन) सर्वसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थज्ञानं भवतीत्याह —

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम् ।।३।।

पुनश्च शिष्य कहता है कि मेरे समान अन्य शिष्यों के बीच में जो आचार्यचरण के उपदेश को संशय-विपर्ययरहित होकर समझता है, वही सर्वात्मक परशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म को समझता है। उसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता ऐसी बात नहीं, अपितु वही पराहन्तास्पद परशिवलिङ्ग को समझता है, उसका साक्षात्कार करता है।।२।।

[जो भक्त स्वयं को 'सदसद्विश्वरूप शिव' समझकर समस्त विश्व को अपना शरीर समझता है, उसका अपने देह, स्त्री, पुत्र आदि से अभिमान छूट जाता है और जिस प्रकार सामान्य मनुष्य अपने शरीर की खुजलाहट तक का अनुभव करता है उसी प्रकार उस भक्त को विश्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवधान से युक्त भी अर्थज्ञान होता है इसी आशय को इस मंत्र में प्रकट किया गया है।

अर्थात् जो भक्त यह अनुभव करता है कि भोक्ता, भोग्य और भोग में कोई अन्तर नहीं है। शिव ही भोक्ता, शिव ही भोग्य और शिव ही भोग है। सम्पूर्ण विश्व ही शिव है, मैं भी शिव ही हूँ, शिव से अभिन्न हूँ; क्योंकि शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है। मैंने परमशिवलिङ्ग के स्वरूप को समझ लिया है इस प्रकार जिसकी दृढ भावना होती है, 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' अथवा 'शिवयोग' के द्वारा उसका यह भ्रम दूर हो जाता है कि 'शिव और जीव दो हैं, अलग-अलग हैं।' परिणामस्वरूप वह

यस्येति। शिवमहालिङ्गं मतं मया ज्ञातमिति यस्य दृढप्रत्ययो भवति पूर्वोक्तलिङ्गाङ्गसामरस्यापरपर्याय'शिवयोग'प्रशमितशिवजीवोभयभ्रान्तेः सर्वत्राऽभ्यस्तात्मव्याप्तेर्यस्य 'भावाभावविश्वात्मकशिवोऽहमि'ति स्वाभिन्नबुद्धिशक्तिरूपा नित्या वृत्तिराविर्भवति, तदा तस्य तेन शिवाद्वैतज्ञानात् प्राक् अमतमपि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टादिसर्वमपि स्वशरीरकण्डूत्यादिकमिव मतं सम्यक् ज्ञातं भवति; 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्', 'मां यो वेद स सर्वान् वेद' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं चेष्टोपदेशे —

यदिदं दृश्यते दृष्ट्वा गृहान् पुत्रांश्च सन्त्यज ।
येन पश्यसि तं पश्य यं दृष्ट्वा पश्यसेऽखिलम् ।।इति।

उक्तं च तत्त्वयुक्तौ —

विषयाधिपतिर्यो हि येन जानाति पार्वति! ।
तस्य यो वेत्ति तत्त्वेन तेन ज्ञातं चराचरम् ।।इति।

सर्वत्र आत्मसाक्षात्कार करता है। उसके अन्तःकरण में अपने से अभिन्न बुद्धिशक्तिस्वरूप इस नित्य चित्तवृत्ति का उदय होता है कि 'भावाभावविश्वस्वरूप शिव मैं ही हूँ।'

इस चित्तवृत्ति के आविर्भाव के कारण शिवाद्वैतबुद्धि के पूर्व जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान को वह प्राप्त नहीं कर पाता, उस ज्ञान को वह अनायास ही प्राप्त करता है। वह समस्त विश्व के सुख-दुःख का अनुभव उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार सामान्य मनुष्य अपने शरीर की खुजलाहट का। इसी बात को प्रथम चरण में इस प्रकार व्यक्त किया गया है —

शिवाद्वैतज्ञान के पूर्व जिस भक्त को भावाभावस्वरूप विश्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान नहीं रहता, वह शिवाद्वैतबुद्धि के बाद अनायास ही होता है।

अद्वैतबुद्धि के पूर्व जिस भक्त को निज देह, स्त्री, पुत्र आदि में संकुचित ममत्वबुद्धि रहती है, वह 'शिवाहंभाव' के पश्चात् नहीं रहती, वह सभी में आत्मसाक्षात्कार करता है।

जो केवल ब्रह्म को सत्ता (भाव) स्वरूप समझते हैं अथवा जो केवल ब्रह्म को असत्ता (अभाव) स्वरूप समझते हैं, वे ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझते।

उक्तं चान्यत्र —

एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ।।इति।

'यस्य' येन प्राक् 'मत'मभिमतं पुत्रकलत्रादिकं सङ्कुचिताहङ्काराद्यास्पदं यत् वर्तते, तत् 'स न वेद' 'स एव सर्वात्मकः शिवोऽहमि'ति शिवाद्वैतज्ञानानन्तरं तथा न जानाति, किन्तु सर्वमपि पराहन्तावगाहित्वेन जानातीत्यर्थः।

ब्रह्म विजानतां सत्त्वमात्रेणाऽसत्त्वमात्रेण वा विदितवतां तदविज्ञातम्, तस्य सदसद्रूपत्वात्, 'सत्यं चानृतं च' इति श्रुतेः, 'सदसच्चाहमर्जुने'ति स्मृतेश्च। अविज्ञानतां तद् ब्रह्म सत्तया असत्तया वा अविदितवतां विज्ञातं विदित-सत्त्वासत्त्वाभ्यां तज्ज्ञानाविर्भावात्।

ननु सत्त्वासत्त्वोभयरूपेण तज्ज्ञानस्य स्वीकारे 'भावग्राह्यमि'त्यादि-श्वेताश्वतरश्रुतिविरोधः स्यादिति चेन्न, 'भावग्राह्यमि'त्यत्र भावपदस्य 'सदसद्विश्वात्म-कशिवोऽहमि'ति पराहन्तावगाहिनित्यशुद्धतादृक्शक्तिरूपवृत्तिपरत्वात्।

ननु 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इति सत्त्वेतरव्यवच्छेदावगमात् तज्ज्ञानस्य सत्त्वमात्रावच्छिन्नविषयताकत्वस्यैव स्वीकार्यत्वात् कथं सत्त्वासत्त्वग्राह्यत्वं परशिवस्य ब्रह्मणः? इति चेन्न, सत्त्वेनैव ग्राह्यत्वे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां

जो ब्रह्म को केवल भावस्वरूप अथवा केवल अभावस्वरूप नहीं समझते, वे वास्तविक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि ब्रह्म भावाभाव-उभयस्वरूप है; भावाभावस्वरूप विश्व भी उससे अभिन्न है। परमशिवलिङ्गस्वरूप ब्रह्म से मैं अभिन्न हूँ।' — 'सदसद्विश्वात्मकः शिवोऽहम्।'

अब प्रश्न उठता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् ब्रह्म को भावग्राह्य मानती है। ब्रह्म को भावाभावरूप मानने पर इसकी संगति कैसे लगेगी? इसका समाधान यह है कि यहाँ 'भाव'पद का अर्थ सत्तामात्र न होकर 'सदसद्विश्वात्मकः शिवोऽहम्' अर्थात् मैं 'भावाभावात्मक शिवस्वरूप हूँ, उससे अभिन्न हूँ' इस प्रकार की चित्तवृत्ति है, जो पराहन्तावगाहिनी नित्य शुद्धदृष्टि से अभिन्न है।

फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'वही ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं, जिसका अस्तित्व हो' — 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'। इससे जिसका अस्तित्व न हो, उसके अतिरिक्त भावरूप ज्ञानमात्र हम प्राप्त कर सकते हैं, इसका हमें बोध

परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह विपश्चिता'' इति श्रुतिविरोधः स्यात्। तत्र कथं विद्यात् कुत्र फलमित्याकाङ्क्षाशान्त्यर्थं हि एतद्वाक्यम्। तथा चात्र सत्यत्वेन आत्मत्वेन सर्वात्मकत्वेन ब्रह्म विद्यादिति ज्ञायते। तस्य सत्त्वैकरूपेण ज्ञायमानत्वे तन्न स्यात्।

न च 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यनेनोक्ता च निन्दा तस्य सत्त्वेन ज्ञानस्वीकारे स्यादिति वाच्यम्, तस्या असत्त्वैकधर्मावगाहिब्रह्मज्ञानवद्विषयकत्वात्। सदसत्सर्वात्मकत्वेन तज्ज्ञानस्वीकारे न कुत्रचिन्निन्दा श्रूयते। अन्यथा 'सर्वो वै रुद्रः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्यादिश्रुतिविरोध आपद्येत।

ननु किमिदमुक्तम् असत्त्वं नाम मिथ्यात्वम्, तच्च त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्। सत्त्वं नाम त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वम्। कथमनयोर्गोत्वगोत्वाभावयोरिव स्थित-

---

होता है। क्या ऐसी स्थिति में हम परशिवस्वरूप ब्रह्म का भावाभावस्वरूप स्वीकार कर सकते हैं?

किन्तु इस प्रकार का प्रश्न करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यदि हम ब्रह्म को केवल भावस्वरूप में ही स्वीकार करें, तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इत्यादि वेदवचन विरुद्धार्थद्योतक होगा। वस्तुतः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' यह वाक्य 'ब्रह्मज्ञान किस प्रकार प्राप्त करें? किसलिए करें?' इत्यादि जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए ही है। इससे हमें यह अर्थबोध होता है कि 'ब्रह्म का ज्ञान हमें सत्य के रूप में, परमात्मा के रूप में और विश्वात्मा के रूप में करना चाहिए। यदि हम केवल उसका साक्षात्कार भावरूप में करें, तो उपर्युक्त अर्थबोध नहीं हो सकता।

साथ ही 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इस प्रकार ब्रह्म की निन्दा की गयी है, ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्योंकि यह श्रुतिवाक्य निन्दापरक न होकर केवल अभावरूप ब्रह्मज्ञानविषयपरक है अर्थात् मात्र अभावरूप ब्रह्मज्ञान कराता है। यदि हम ब्रह्म को सदसद्रूप अथवा भावाभावस्वरूप समझें, तो यह श्रुतिवाक्य निन्दापरक प्रतीत नहीं होगा, अपितु अभावरूप ब्रह्मज्ञानकारक होगा। केवल ब्रह्म को भावरूप स्वीकार करने पर उपर्युक्त भ्रान्ति होती है, अन्यथा नहीं।

कुछ लोग इस प्रकार की शङ्का उपस्थित करते हैं कि 'असत्त्व' अथवा 'अभाव' की परिभाषा है मिथ्याभाव, जो त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है। सत्त्व

योरेकत्र समावेशं ब्रवीषि। तत्समावेशे च तदुभयरूपेण ब्रह्मज्ञानं स्यात्, इति चेत् त्वमनवगच्छसि शिवाद्वैतसिद्धान्तरहस्यम्। अचिन्त्यशक्तिके परमशिवे किन्न समाविशति। सत्त्वासत्त्वयोरविरोधश्च पूर्वमुक्त एव।

किञ्च, असत्त्वं नाम न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्, तस्याप्रसिद्धत्वात्। न हि घटकाले मृदि घटो नास्तीति निषेधः सम्भवति। नहि च प्रपञ्चकाले ब्रह्मणि तन्निषेधः। 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिना कार्यकारणयोरभिन्नत्वमुच्यते, न तु त्वदभिमतमनृतत्वम्। तस्मादनृतत्वं नाम स्वसमानकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वमिति वक्तव्यम्। तच्च प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राङ् नास्ति प्रपञ्चस्य कार्यस्वरूपे, त्यागकाले च ब्रह्मणि प्रपञ्चो नास्तीति स्वसमानकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपमनृतत्वं प्रपञ्चे वर्तते। यथा घटोत्पत्तेः प्राग् घटस्य कार्यस्वरूपता, त्यागकाले च मुद्गरप्रहारादिना मृदि घटो

का अर्थ है भाव या सत्य, जो त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी नहीं है। जिस प्रकार गोत्व और गोत्वाभाव एकत्र नहीं रह सकता, उसी प्रकार ब्रह्म का भावाभावोभय-स्वरूप हमारी दृष्टि में एकत्र रहना असम्भव है। फिर इसकी संगति किस प्रकार होगी? इस प्रकार की शंका वे ही उपस्थित करते हैं, जो शिवाद्वैतसिद्धान्तरहस्य को नहीं समझते। परमशिव की शक्ति के विषय में हम सोच भी नहीं सकते। उसमें कौन-कौनसा ज्ञान समाविष्ट नहीं होता? उसमें सभी प्रकार का ज्ञान, चाहे आपाततः वह परस्परविरुद्ध ही प्रतीत क्यों न हो, समाविष्ट होता है। भाव और अभाव का अविरोध प्रथम निरूपित किया गया है।

साथ ही असत्त्व अभाव ज्ञान सर्वदा त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी नहीं होता, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। घट की सत्ता के समय हम यह निषेध नहीं कर सकते कि मिट्टी में घट नहीं है। उसी प्रकार सांसारिक अवस्था में भी हम यह नहीं कह सकते कि संसार में ब्रह्म व्याप्त नहीं है। 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि वाक्यों में कार्य-कारण का अभेद स्वीकार किया गया है, अभाव का अनृतत्व अथवा मिथ्यात्व नहीं। अनृतत्व अर्थात् मिथ्यात्व का अर्थ है 'स्वसमानकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्व'। प्रपञ्च की उत्पत्ति के पूर्व प्रपञ्च कार्यरूप में नहीं रहता और उसे छोड़ते समय हमें 'प्रपञ्च नहीं है' यह बोध होता है। इस प्रकार हमें प्रपञ्च में 'स्वसमानकालवृत्त्यभावप्रतियोगिस्वरूप' 'अनृतत्व', 'असत्यत्व'

नास्तीति घटसमानकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं घटे। तस्माद् घटकार्यमसत्, कारणं तु मृत्स्वरूपं न जहातीति कारणं सत्। एकं हि वस्तु कार्यरूपेण कारणरूपे निश्चितम्।

सद्रूपं द्विविधमनपेक्षिकं सापेक्षिकं च। मृदादि सद्रूपं सापेक्षिकम्, ब्रह्म तु अनपेक्षिकम्, तस्य सदा सत्त्वात्। तथा च 'अविज्ञातं विजानतामि'त्यादिना कारणकार्यरूपेण तत्परं ब्रह्म ज्ञातव्यम्, न त्वेकेन कारणरूपेणैकेन कार्यरूपेणेति सूचितमिति सूक्ष्मदृशाऽवधेयम्।।३।।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।४।।

प्रतिबोधविदितमिति। (चिच्छक्तिः) गुरुकृतलिङ्गधारणाऽभ्यासवशेन जलपतिततैलवत् प्रकर्षमादधाना सती दर्शनरूपा भवति। तेन साक्षात्कारात्मकेन 'प्रतिबोधविदितमि'ति।

अथवा 'मिथ्यात्व' का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ घटनिर्माण के पूर्व कार्यरूप में घटज्ञान मिथ्या है। मुद्गर-प्रहार आदि के द्वारा उसे तोड़ने पर 'मृत्तिका में घट नहीं है' इस प्रकार का ज्ञान 'स्वसमानकालवृत्त्यभावप्रतियोगिस्वरूप' होने के कारण मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार घटकार्य 'असत्' है, परन्तु मृत्तिका (कारण) के रूप में 'सत्' है। एक ही वस्तु जब कार्यरूप में बदलती है, तब कारणरूप में वहाँ अवश्य वर्तमान रहती है।

सत् या भाव का रूप द्विविध होता है — सापेक्ष और निरपेक्ष। कारण के रूप में वर्तमान मिट्टी का सद्रूप सापेक्षिक है, किन्तु ब्रह्म का सद्रूप निरपेक्ष रहता है। उसकी सत्ता सदा वर्तमान रहती है।

इस प्रकार 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्' इत्यादि उत्तरार्ध के द्वारा यह सूचित होता है कि ब्रह्म का साक्षात्कार कारणकार्योभयस्वरूप करना चाहिए न केवल कारणस्वरूप और न केवल कार्यस्वरूप।।३।।

'प्रतिबोध' अर्थात् साक्षात्कार से जो परशिवलिङ्गस्वरूप ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है, वह 'अमृतत्व' प्राप्त करता है, जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता, उसकी मुक्ति होती है।

'प्रतिबोधो' नाम लिङ्गाङ्गसामरस्यरूपशिवाद्वैतज्ञानम्, तस्य द्वैतज्ञानात्मकसुखदु:खमोहसङ्कल्पविकल्पाध्यवसायादिरूपबन्धनिवर्तकत्वात्। तेन पराहन्तामयापरोक्षविमर्शापरपर्यायभाण्डस्थानीयचिच्छक्तिरूपेण विदितं विषयीकृतं यत् तन्मतं सम्यग् दृष्टं ब्रह्म येन स प्रतिबोधवान् अमृतत्वं मरणाद्यभावं मुक्तिं विन्दते प्राप्नोति। तदुक्तं शिवसूत्रे — 'विद्याऽविनाशे जन्मविनाश' इति। उक्तं च श्रीमद्रेणुकभगवत्पादैः —

शिव एव जगत् सर्वं शिव एवाहमित्यपि ।
भावयन् परमो योगी भवदोषैर्न लिप्यते ।।इति।

उक्तं च श्रीकण्ठ्याम् —

स प्रपञ्चं परित्यज्य हेयोपादेयलक्षणम् ।
तृणादिकं तथा पर्णं पाषाणं सचराचरम् ।।

चिच्छक्ति जब गुरूपदेश के द्वारा लिङ्गधारण के अभ्यास के कारण जब जल में गिरे हुए तैलबिन्दु के समान चमकने लगती है, तब वह दर्शनीय हो जाती है। उसी साक्षात्कारयोग्य चिच्छक्ति को 'प्रतिबोध' कहते हैं।

'प्रतिबोध' का अर्थ है 'लिङ्गाङ्गसामरस्य'स्वरूप शिवाद्वैतज्ञान, क्योंकि उस प्रकार की बुद्धि ही द्वैतज्ञानस्वरूप बन्धन को करती है। द्वैतज्ञान से ही सुख, दु:ख, मोह, संकल्प, विकल्प, अध्यवसाय आदि का जन्म होता है, अत: द्वैतज्ञान बन्धनकारक है, जिसे शिवाद्वैतबुद्धि दूर करती है। वह 'शिवाद्वैतज्ञान' अथवा 'प्रतिबोध', जो 'चिच्छक्तिस्वरूप' है, जो पराहन्तामय अपरोक्ष विमर्शशक्ति भी है, ऐसा पात्र है, जिसमें ज्ञानी 'अमृत' प्राप्त करता है।

'शिवसूत्र' का कथन है कि 'शिवध्यानस्वरूप शुद्धविद्या का जब तक विनाश नहीं होता, तब तक प्राणी जन्म के बन्धन में नहीं पड़ता, उसकी मुक्ति होती है।' जैसा कि श्रीरेणुकभगवत्पादाचार्य का कथन है कि 'जो सम्पूर्ण विश्व एवं स्वयं को शिवस्वरूप समझता है, वह शिवयोगी सांसारिक दोषों से लिप्त नहीं होता।' 'श्रीकण्ठी' में भी कहा है कि 'तृण, पर्ण, पाषाण आदि स्थावर-जङ्गम हेय-उपादेयस्वरूप प्रपञ्च को छोड़कर भाव-अभाव से उपबृंहित शिव से पृथ्वीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वात्मक समस्त विश्व का शिव के स्वरूप में ध्यान करनेवाला शिवयोगी

शिवाद्यवनिपर्यन्तं भावाभावोपबृंहितम् ।
सर्वं शिवमयं ध्यात्वा भूयो जन्म न चाप्नुयात् ।।इति।

अत्र शिवसूत्रादिषूक्ताया भावनारूपविद्याया अविनाशे सततोन्मग्नत्वे तस्याः साक्षात्काररूपप्रतिबोधरूपत्वात्। उक्तं हि विश्वसंहितायाम् —

ध्येये चित्तं यदा लीनं तदा ध्यानमुदाहृतम् ।
ध्येयः प्रत्यक्षतां याति ध्याता तन्मयतां व्रजेत् ।।इति।

उक्तं च षाड्गुण्यविवेके —

एवं तन्मय एवाहमिति भावनया यदि ।
प्रलीनाहङ्कृतिग्रन्थिः पश्यत्येव त्वदात्मताम् ।।इति।

पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता। क्योंकि शिवसूत्रोक्त शिवभावनास्वरूप शुद्धविद्या साक्षात्कार अथवा प्रतिबोधस्वरूप होने के कारण शिवध्यान में सतत मग्न प्राणी जन्ममरणचक्र में नहीं पड़ता। 'विश्वसंहिता' के अनुसार जब 'ध्येय' में चित्त लग जाता है, तब उसे 'ध्यान' कहते हैं। उस समय 'ध्येय' का साक्षात्कार होता है और 'ध्याता' (ध्यान करनेवाला) उसमें तल्लीन होता है।'

'षाड्गुण्यविवेक' के अनुसार यदि शिवयोगी 'मैं शिवस्वरूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की भावना करता है, उस समय समस्त अहङ्कार की ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। 'अहम्' और 'त्वम्' का भेद मिट जाता है और 'त्वम्' के रूप में देखने लगता है।

'मालिनीविजय' में इसे 'शाम्भवसमावेश' कहा गया है। गुरु द्वारा 'प्रतिबोध' या चिच्छक्तिस्वरूप साक्षात्कार के बाद सभी को अकिञ्चित् समझनेवाला जो 'ध्यान' करता है, वह 'शाम्भवसमावेश' कहलाता है।

यहाँ 'समावेश' का अर्थ 'संयोग' है। यह संयोग उस प्रकार की समरसता है, जिस प्रकार नदी का जल समुद्र में मिलकर तदाकार हो जाता है। इस प्रकार 'शाम्भवविद्या'वेत्ता अथवा 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' का आस्वाद करनेवाले रसिक शिवयोगी परमपद प्राप्त करते हैं। हिमखण्ड धीरे-धीरे पिघलकर समुद्र में जल के रूप में मिल जाने पर फिर से हिमखण्ड नहीं बन सकता, ताम्बा यदि सोना हो तो फिर ताम्बा नहीं बन सकता, मक्खन के घी बन जाने पर वह फिर से मक्खन

उक्तं च मालिनीविजये —

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।।इति।

अत्र समावेशः संयोगः सामरस्यं नद्या अब्धौ तादात्म्यमिव गच्छन्ति परपदं तादृशशाम्भवविद्यारसिकाः। करकस्य मन्दं मन्दं जलरूपं गतस्य समुद्रपतितस्य, ताम्रस्य सुवर्णभावमापन्नस्य, नवनीतस्य घृतभावं गतस्य, जलस्य मौक्तिकत्वं गतस्य, घटस्य स्थूलस्य बुद्धिं गतस्य सूक्ष्मभावमापन्नस्य च न यथा पूर्वरूपता, तथा अग्निसंयुक्तसलिलशैत्यस्य शनैः शनैर्विनाशवत् समानान्तपाशजालस्य विनाशे प्रतिबोधतः शिवभावमापन्नस्य न पुनः पशुत्वम्।

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तः शाश्वतं त्वचलं ध्रुवम् ।
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्या भूयो न जायते ।
पाशयुक्तो भवेज्जीवः पाशमुक्तो भवेच्छिवः।।

इत्युक्तत्वात्, "समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परः शिवः।" इत्युक्तत्वाच्च।

नहीं बन सकता, सीप में पड़ा हुआ जलबिन्दु यदि मोती बन जाय तो फिर जलरूप प्राप्त नहीं कर सकता, स्थूल घट के केवल बुद्धिगम्य होने पर सूक्ष्म रूप प्राप्त करने पर अर्थात् चूर-चूर होने पर वह फिर घट नहीं बन सकता। ठीक यही स्थिति उस 'जीव' की होती है, जो 'पाश'मुक्त होता है, शिवाकार होने पर उसका 'पशुत्व' नष्ट हो जाता है। गुरुदक्षिणा के द्वारा 'प्रतिबोध' से ही उसका 'समना'पर्यन्त 'पाशजाल' उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से धीरे-धीरे जल की शीतलता नष्ट हो जाती है। 'पाशजाल' के सम्पर्क तक ही जीव का 'पशुत्व' और 'जीवत्व' रहता है। 'पाशमुक्त' होने पर वह 'शिव' हो जाता है।

जैसा कि कहा है — 'पशु', 'पति' और 'पाश' इन तीन तत्त्वों से मुक्त जीव दिव्य योगमार्ग की दृष्टि से शाश्वत, अचल (स्थिर) ध्रुवपद प्राप्त करता है। पाशजाल से युक्त जीव जीव रहता है; उससे मुक्त जीव 'शिव' हो जाता है। जैसा कि प्रमाण-वचन है — 'जीव' का पाशजाल 'समना'पर्यन्त होता है, 'उन्मनी' तक पहुँचते-पहुँचते वह 'परशिव' हो जाता है।

उन्मनी शिवव्याप्तिरूपा शिवाद्वैतविद्या द्वादशान्तारपर्यन्ता। उक्तं च स्वच्छन्दे —

सार्वज्ञादिगुणा येऽर्था व्यापकान् भावयेद् यदा ।
शिवव्याप्तिर्भवत्येषा चैतन्ये हेतुरूपिणी ।।
उन्मनी सा तु विज्ञेया ....।।इति।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ।।

शक्तिश्च व्यापिनी चैव व्योमरूपा त्वनन्तरम् ।
अथवानाश्रिता चैव समना उन्मनी तथा ।

समनान्तं पाशजालं उन्मन्यन्ते परः शिवः ।।इत्युक्तेः।

स्वस्वरूपप्रकाशरूपात्मशक्तिप्रतिरोधकबाह्यविषयाकारद्वैतवृत्तिप्रातिकूल्य-प्रयुक्तान्तर्ध्येयाभिमुखाद्वैताविच्छित्तिचित्तवृत्तिरूपध्याननिर्मथनाभ्यासप्राप्तबोध एव प्रतिबोधः पाशविच्छेदनसमर्थः।

'ध्याननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः।'

इति श्रुतेः।

उन्मनी वह शिवाद्वैतविद्या है, जो 'शिवव्याप्ति'स्वरूपिणी है, जीव को शिवभाव से व्याप्त कर देती है। उसके द्वादश 'अर' (विभाग) हैं। जैसा कि 'स्वच्छन्दतन्त्र' का प्रमाणवचन है — 'सर्वज्ञत्व' आदि जो छः व्यापक 'माहेश्वर-धर्म' हैं, जीव जब उनकी भावना करता है, वह 'शिवव्याप्ति' होती है। वही चैतन्य में कारण है। उसे 'उन्मनी' समझना चाहिए।

उसके बारह 'अर' (विभाग) इस प्रकार हैं — (१) अकार, (२) उकार, (३) बिन्दुस्वरूप मकार, (४) निरोधी अर्धचन्द्र, (५) नाद, (६) नादान्त, (७) शक्ति, (८) व्यापिनी, (९) व्योमरूपा, (१०) अनाश्रिता, (११) समना और (१२) उन्मनी। जीव 'समना'पर्यन्त 'पाशजाल' से घिरा रहता है। 'उन्मनी' तक पहुँचते-पहुँचते परशिव हो जाता है।'

'ध्यान' का निर्मथन (दृढतापूर्वक ध्यान) और उसके अभ्यास (वारंवार प्रवृत्ति) से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे 'प्रतिबोध' कहते हैं। वही 'समना'पर्यन्त 'पाशजाल' को काटने में समर्थ है।

तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावात् ।
·······भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।।

इति श्रुतेश्च।

सर्वमेतत् परित्यज्य शिव एव शिवङ्करः।
ध्येय इत्याह परमा श्रुतिराथर्वणी खलु ।।

इत्युक्तत्वाच्च। उक्तं च रेणुकभगवत्पादैः —

आत्मारणिसमुत्थेन प्रमोदमथनात् सुधीः ।
ज्ञानाग्निना दहेत् सर्वं पाशजालं जगन्मयम् ।।

संसारविषवृक्षस्य पञ्चक्लेशफलाशिनः ।
छेदने कर्ममूलस्य परशुः शिवभावना ।।

अज्ञानराक्षसोन्मेषकारणं संवृतात्मनः ।
शिवध्यानं तु संसारतमसश्चण्डभास्करः ।।इति।

'ध्यान' ध्याता की वह एकाग्र चित्तवृत्ति है, जो 'ध्येय' को सम्मुख पाकर तदाकार हो जाती है, उससे अविच्छिन्न रूप से अद्वैतभाव स्थापित करती है। फलतः वह बाह्यविषयाकार द्वैतभावना दूर होने लगती है, जो (बाह्य चित्तवृत्ति) आत्मशक्ति की प्रतिरोधिनी होती है। उस बाह्य चित्तवृत्ति के दूर होते ही स्व-स्वरूप-प्रकाशस्वरूपिणी आत्मशक्ति का उदय होता है।

जैसा कि श्रुति-प्रमाण है—'सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि से सम्पन्न जीव ध्याननिर्मथन और उसके अभ्यास से 'पाशजाल' को भस्मसात् करता है।'

'उस (शिव) का ध्यान करने से, उससे सम्बन्ध स्थापित करने से और पुनः शिवभावापन्न होने से अन्त में विश्व के मायिक प्रपंचों से मुक्ति मिलती है।'

अतएव अथर्ववेद आज्ञा देता है कि 'सभी मायिक प्रपंच का परित्याग करके 'शिव' (कल्याण) कारक शिव का ही ध्यान करना चाहिए।'

इसके विषय में श्रीरेणुकभगवत्पादाचार्य कहते हैं—'आत्मस्वरूप अरणि के मन्थन से उत्पन्न ज्ञानस्वरूप अग्नि से प्रमोद (आनन्द) को निकालकर ज्ञानी जगदस्वरूप पाशजाल को भस्मसात् करे। जीव के प्राक्तन कर्मों की जड़ें उस संसार के विषवृक्ष में रहती हैं, जिस वृक्ष में पाँच प्रकार के क्लेशरूपी फल लगे रहते

न तु 'तत्त्वमस्या'दिवाक्यजन्यवृत्त्यविषयत्वेन ज्ञानं प्रतिबोधः प्रत्ययः प्रत्यगात्मा, तस्याप्रसिद्धत्वात्, निर्विषयस्य ज्ञानत्वे घटादीनामपि तत्प्रसङ्गात्।

ननु जडानां वृत्तीनां स्वाभाविकप्रकाशासत्त्वात् तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यचित्तवृत्तेरपि जडत्वादज्ञाननिवर्तकत्वाभावात् कथममृतत्वं विन्दते? इति चेत्, त्वं न जानासि शिवाद्वैतसिद्धान्तरहस्यम्।

'कोऽहमित्यब्रवीद् देही गुरुं परमकारणम्'

इति शरणागतशिष्येण पृष्टो गुरुस्तस्य स्थूलसूक्ष्मकारणापरपर्यायत्यागाङ्ग-भोगाङ्गयोगाङ्गेषु क्रियामनुवेधादीक्षात्रयेण इष्टादिलिङ्गत्रयं संयोज्य तत्त्वमसीत्याह सत्यार्थं करुणानिधिः।

हैं। उस वृक्ष का उच्छेदन करने में शिवभावना परशु बन जाती है। जिसकी आत्मा आच्छादित रहती है, उस जीव के लिए अज्ञानरूपी राक्षस का उन्मेष निमित्त बनता है। शिव का ध्यान संसार के अज्ञानान्धकार को हटाने के लिए प्रखर सूर्य बन जाता है।'

शाङ्करवेदान्तदर्शन के अनुसार 'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न जो चित्तवृत्ति समुदित होती है, उस पर चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उससे युक्त चित्तवृत्ति जब अज्ञान से ढके चैतन्य को अपना विषय बनाती है, तब चैतन्य में रहनेवाले अज्ञान को दूर करती है और अज्ञाननाश के पश्चात् शुद्धचैतन्य स्वतः प्रकाशित होता है। यह स्वतःप्रकाशमान शुद्धचैतन्य 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न चित्तवृत्ति का विषय नहीं होता। इस चित्तवृत्ति का विषय न रहनेवाला शुद्धचैतन्यस्वरूप ज्ञान ही 'प्रतिबोध', 'प्रत्यय' अथवा 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है।

'वीरशैवभाष्य'कार इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'प्रतिबोध' की यह परिभाषा नहीं है, क्योंकि 'निर्विषयक'ज्ञान अप्रसिद्ध है, सभी प्रकार के ज्ञान चित्तवृत्ति के विषय होते हैं। निर्विषयक ज्ञान की सत्ता स्वीकार करने पर निर्विषयक घटादि ज्ञान भी 'प्रतिबोध' की कोटि में आयेगा।

चित्तवृत्तियाँ जड होती हैं, उनमें स्वाभाविक प्रकाश नहीं रहता। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न चित्तवृत्ति भी इसका अपवाद नहीं है, वह भी जड है। वह अज्ञाननिवारक नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में 'अमृतत्व'प्राप्ति कैसे सम्भव है? इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए। 'शिवाद्वैतसिद्धान्त' रहस्य को न जानने वाले ही ऐसी शङ्का उठाते हैं।

ततश्च शिष्यस्तद्विचारस्वानुभवाभ्यां 'सर्वात्मकब्रह्मैवाहमस्मी'ति निश्चित्य षडङ्गस्थलयोगाभ्यासे प्रवर्तते। अभ्यासदार्ढ्ये च सदाशिववत् तस्य 'सर्वात्मकशिव एवाहमि'ति चिच्छक्तिराविर्भवति। तदा विगलितचितिशक्तिसङ्कोचाख्यात्यात्मकमलत्वात् चित्तशक्तिविकासरूपापरोक्षचितिशक्तेर्जडत्वाभावाद् बन्धनिवर्तकत्वात् तादृशशक्तिरूप-प्रतिबोधवान् प्राणलिङ्गी तुर्याद्यवस्थापन्नः स्वतन्त्रं विन्दत एवाऽमृतत्वम्।

उक्तं च शक्तिसूत्रे — 'चितिरेव चेतनपदादवरूढा चैत्यसङ्कोचिनी चित्तम्। तत्परिज्ञाने च चित्तमेवान्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहाच्चितिः' इति। उक्तं च पदवाक्यप्रमाणज्ञेन मरितोण्टदार्येणापि 'चितिसङ्कोचचित्तविशिष्टो जीवः' इति।

शिष्यभावापन्न शरणागत जीव जब परमकारणस्वरूप गुरु से प्रश्न करता है—'कोऽहम्?' (मैं कौन हूँ?) तब गुरु उसका समाधान करते हैं—'तत् त्वम् असि।' तुम (जीव) वही (शिव) हो। देह तीन प्रकार के होते हैं — (१) स्थूल-देह, जिसे 'त्यागाङ्ग' भी कहते हैं। (२) सूक्ष्मदेह, जिसे 'भोगाङ्ग' भी कहते हैं और (३) कारणदेह, जिसे 'योगाङ्ग' भी कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार करने के लिए क्रियादीक्षा के द्वारा स्थूलदेह (त्यागाङ्ग) में 'इष्टलिङ्ग' का संयोजन करना चाहिए, 'मनु' मन्त्रदीक्षा के द्वारा सूक्ष्मदेह में 'प्राणलिङ्ग' का संयोजन करना चाहिए और 'वेधा' ज्ञानदीक्षा के द्वारा 'कारणदेह' (योगाङ्ग) में 'भावलिङ्ग' का संयोजन करना चाहिए। क्योंकि तुम (जीव) वही (सर्वात्मक शिव ही) हो।''

फिर शिष्य गुरुदेव के विचार तथा स्वानुभव के द्वारा निश्चय करता है—'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'मैं ही सर्वात्मक ब्रह्म हूँ।' अनन्तर सर्वज्ञत्व, तृप्ति आदि छः 'माहेश्वर धर्म' प्राप्त करने के लिए अथवा 'भक्त-स्थल', 'माहेश्वर-स्थल' आदि छः 'ऐश्वर्य-स्थल' प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की ओर प्रवृत्त होता है। अभ्यास में दृढता आने पर सदाशिव के समान ही उसकी चिच्छक्ति प्रकट होती है, जिसका आकार होता है—'सर्वात्मकशिव एवाऽहम्' — 'मैं सर्वात्मक शिव ही हूँ।' चिच्छक्ति का प्रकाश होने के बाद चित्त पर आवरण डालनेवाला मल गल जाता है, जो 'चितिशक्तिसंकोचाख्याति'स्वरूप होता है। अर्थात् चितिशक्ति का संकोच ही चित्त पर आवरण डालनेवाला मल होता है, जो चिच्छक्ति के आविर्भाव के बाद हट जाता है। चितिशक्तिसंकोचस्वरूपा चित्तवृत्ति जड हो सकती है, परन्तु चित्तशक्ति की विकासस्वरूपा अपरोक्ष चितिशक्ति में जडत्व का अभाव होता है, उसमें जडत्व नहीं रहता। सुख, दुःख, मोह, संकल्प, विकल्प, अध्यवसाय आदि द्वैतभावना का ज्ञान ही 'जीव' का 'बन्ध' (बन्धनकारक पाशजाल) है, जिसे

विषयवासनाविशिष्टत्वाच्चित्तस्य तद्विषयनिश्चयाभिमानसङ्कल्पविकल्पादि-वृत्तिरूपव्यापारवत्त्वात् तद्विशिष्टस्य 'बन्धः'। यदा तु तच्चित्तं परित्यक्तबहिर्मुखीभावं सदन्तर्मुखीभावेनारूढशिवपदं भवति, मध्यभूतसुषुम्नामार्गेण तत्तत्तत्त्वात्मकाचारा-दिलिङ्गग्रन्थीर्विभिद्य सोपानाक्रमणक्रमेणाक्रान्ततत्तदूर्ध्वलिङ्गं सत् चिच्छक्तिरूपं भवति, तदायं जीवो जीवभावं परित्यज्य परशिवमहालिङ्गसमरसो भवति।

जीवभावस्य चित्तहेतुकत्वात् चित्तभावस्य च चिच्छक्तिसङ्कोचनिमित्तकत्वात् साक्षात्कृतस्वस्वरूपमहारुद्रविद्रावितनिखिलक्षुद्रपाशराशेः भूरुद्रस्य वीरमाहेश्वरस्य

चित्तशक्तिविकासस्वरूपा अपरोक्ष चितिशक्ति दूर कर सकती है और चिच्छक्ति का आविर्भाव ही सर्वात्मक शिवस्वरूप बोध अथवा 'प्रतिबोध' है। उससे विशिष्ट प्राणलिङ्गी जीव जब तुरीयादि अवस्था को प्राप्त करता है, तब मृत्यु के अभावस्वरूप अमृतत्व को स्वतन्त्ररूप से अवश्य प्राप्त करता है।

शिव से लेकर धरणीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों से ऊर्ध्व में अवस्थित परब्रह्मस्वरूप महालिङ्ग 'घृतकाठिन्यन्याय' से 'प्राणलिङ्ग' हो जाता है, जो मनोग्राह्य है। जब जीव चिच्छक्ति के विकास के कारण मानसिक रूप से 'मैं महालिङ्गस्वरूप हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार करता है, तब तदाकार प्राणलिङ्गी जीव तुरीयादि अवस्था को प्राप्त करते हुए अमृतत्व प्राप्ति करता है।

'शक्तिसूत्र' के अनुसार 'चिति ही चित्त है और चित्त ही चिति।' बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता उसे दो अवस्थाओं में परिणत करती है। जैसा कि 'शक्तिसूत्र' का कथन है— 'चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम्। तत्परिज्ञाने च चित्तमेवाऽन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहाच्चितिः।' अर्थात् 'चेतन'पद से अवतीर्ण चिच्छक्तिसंकोचस्वरूपिणी चितिशक्ति ही 'चित्त' है। स्वस्वरूप का 'प्रतिबोध' (परिज्ञान) होने पर वही चित्त अन्तर्मुख होकर चेतनपद पर आरूढ होने के कारण चितिशक्ति में परिणत होता है। पदवाक्यप्रमाणशास्त्रवेत्ता मरितोंटदार्य का कथन है— 'चिति-सङ्कोचचित्तविशिष्टो जीवः।' अर्थात् 'चिच्छक्ति का सङ्कोच ही 'चित्त' है, और (जब तक उसका विकास नहीं होता, तब तक) उससे विशिष्ट जीव होता है।' और चिच्छक्ति के विकास से चेतनपद पर आरूढ वह 'शिवाकार' हो जाता है।

यतः चित्त विषय-वासनाओं से व्याप्त रहता है, उसमें तत्सम्बन्धी निश्चय, अभिमान, सङ्कल्प, विकल्प आदि वृत्तियों के रूप में व्यापार होता रहता है, भावनाएँ

चिच्छक्तिविशिष्टस्य जीवन्मुक्तस्य स्वशक्तिसङ्कोचकलाया अपि विलीनत्वात् कथमस्य जीवत्वं पुनः प्रत्यवतिष्ठेत?

नन्वन्तःकरणवृत्तीनामनित्यत्वाद् वृत्तेः स्वविरोधिवृत्तिजननपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमाच्च घटादिवृत्तेश्च नित्यत्वे चक्षुस्संयोगादीनां वैयर्थ्यापाताच्च घटं दृष्ट्वा पटं

उभरती रहती हैं; अतः इस प्रकार के चित्त से विशिष्ट जीव 'बन्ध' (पाशजाल) में पड़ जाता है। (चित्त की ये वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं।) जब वह चित्त अपनी बहिर्मुखता को छोड़कर अन्तर्मुख होते हुए 'शिव'पद पर आरूढ होता है, तब मध्यवर्ती सुषम्ना-मार्ग से तत्तत्तत्त्वस्वरूप आचार आदि लिङ्गों का ग्रन्थिभेदन करते हुए जिस प्रकार सीढ़ियों पर चढ़ा जाता है, उसी प्रकार उससे ऊपर स्थित लिङ्ग को पार करते हुए चिच्छक्तिस्वरूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीव 'जीवभाव' को छोड़कर 'परशिवमहालिङ्ग' के साथ समरस हो जाता है, तदाकार हो जाता है।

['लिङ्गाङ्गसामरस्य' को समझने के लिए 'केनोपनिषत्' के प्रथम खण्ड के द्वितीय मंत्र 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' की व्याख्या द्रष्टव्य है। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' अलग-अलग न होकर एक ही हैं, जिसे 'स्थल' कहते हैं। सृष्टि की स्थिति में उस (स्थल) की विकसित शक्ति सङ्कुचित होती है और उसमें क्षोभ होता है। उस क्षोभमात्र से वह स्थल दो प्रकार का रूप लेता है—लिङ्गस्थल और अङ्गस्थल। 'लिङ्गस्थल' को 'तत् पद' और 'अङ्गस्थल' को 'त्वम् पद' कहते हैं। दोनों के संयोग का 'असि' पद कहते हैं। 'तत् पद' लिङ्गस्वरूप परमात्मा को संकेतित करता है और उससे उत्पन्न अङ्गस्वरूप जीवात्मा 'त्वम् पद' से सम्बोधित होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता आचारादि लिङ्गदेवता 'अङ्गस्थल' कहलाते है। महालिङ्ग को लेकर षट्स्थलस्वरूप परब्रह्म एक ही है।

घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है, जिसका अधिष्ठाता है 'आचारलिङ्ग'। जिह्वा (रसनेन्द्रिय) का विषय रस है, जिसका अधिष्ठाता है 'गुरुलिङ्ग'। चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, जिसका अधिष्ठाता 'शिवलिङ्ग' है। त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है, जिसका अधिष्ठाता 'चरलिङ्ग' है। श्रोत्रेन्द्रिय और वागिन्द्रिय दोनों का विषय शब्द है और उनका अधिष्ठाता देवता 'प्रसादलिङ्ग' है। अन्तिम पदार्थ है परिणाम। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता आचारादिलिङ्ग एक के ऊपर एक अवस्थित हैं।

पश्यतः पुरुषस्य पटज्ञानकाले घटज्ञानप्रसङ्गाच्चानित्यत्वं वक्तव्यम्। तथा च वृत्तित्वव्याप्यब्रह्माकारवृत्तित्वावच्छिन्नस्याप्यनित्यत्वात् 'सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मास्मी'त्याकारकबुद्धिशक्तिविशिष्टत्वे ब्रह्मभूतस्याप्यनित्यत्वं स्यात्। स्याच्च भवदभिमतशिवाद्वैतस्यापि हानिः। तस्माद् भवतापि तादृशवृत्तेरनित्यत्वं वाच्यमिति चेन्न।

चरमस्थलस्वरूप 'महालिङ्ग' सबसे ऊर्ध्व में अवस्थित है। वस्तुतः षट्स्थलस्वरूप परब्रह्म एक ही है। 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' का अर्थ है पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को उनके आचारादि लिङ्गदेवताओं को क्रमशः समर्पित करते हुए आचारादि लिङ्गों का क्रमशः अपने ऊर्ध्व अवस्थित गुरु आदि लिङ्गों में विलय तथा अन्त में प्रसादलिङ्ग का महालिङ्ग में विलय। वह क्रम इस प्रकार है—प्रथम घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध को उसके अधिष्ठाता देवता आचारलिङ्ग को समर्पित करना चाहिए। तदनन्तर आचारलिङ्ग का गुरुलिङ्ग में विलय करना चाहिए। पश्चात् रसनेन्द्रिय के विषय रस को उसके अधिष्ठाता देवता गुरुलिङ्ग को समर्पित करना चाहिए और उसके बाद उससे ऊर्ध्वस्थित शिवलिङ्ग में गुरुलिङ्ग का विलय करना चाहिए। अनन्तर चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप को उसके अधिष्ठाता देवता शिवलिङ्ग को समर्पित करना चाहिए और उससे ऊर्ध्वस्थित चरलिङ्ग में शिवलिङ्ग का विलय करना चाहिए। त्वगिन्द्रिय के विषय स्पर्श को उसके अधिष्ठाता देवता चरलिङ्ग को समर्पित करना चाहिए और उससे ऊर्ध्वस्थित प्रसादलिङ्ग में चरलिङ्ग का विलय करना चाहिए। श्रोत्रेन्द्रिय और वागिन्द्रिय के विषय शब्द को उसके अधिष्ठाता देवता प्रसादलिङ्ग में समर्पित करना चाहिए और सबसे अन्त में प्रसादलिङ्ग का विलय उससे ऊर्ध्वस्थित षष्ठस्थलस्वरूप महालिङ्ग में करना चाहिए। इसीका नाम 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' है।]

इस प्रकार मध्यवर्ती सुषुम्नामार्ग से आचारादिलिङ्गग्रन्थियों का भेदन करते हुए एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़कर चित्त महालिङ्ग तक पहुँचकर चिच्छक्तिस्वरूप हो जाता है, तब उससे विशिष्ट जीव 'जीवभाव' का परित्याग करता है, 'बन्ध' (पाशजाल) से मुक्त होता है और परशिव महालिङ्ग के साथ सामरस्य प्राप्त कर तदाकार हो जाता है।

यतः जीवात्मा के जीवभाव का कारण है चित्त और उस चित्त के चित्तभाव का निमित्त है चिच्छक्ति का सङ्कोच, अतः जब जीवात्मा महारुद्रस्वरूप का

घटाद्यन्तःकरणवृत्तीनां नित्यत्वात्, स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिकाले स्वस्याः सङ्कुचितत्वात्, पटवृत्त्युत्पत्तिकाले घटवृत्त्यावरणनाशाभावात् तन्नाशकेन्द्रियवृत्त्यभावान्न तत्काले घटज्ञानप्रसङ्गः।

इन्द्रियसंयोगादीनामावरणाभिभवार्थत्वाच्च न चानर्थक्यं तेषाम् —

'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता'

इत्युक्तप्रकारेण भवता यथा ब्रह्मगताज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्ष्यते, तथैव घटप्रकाशावरणनाशायैवापेक्ष्यतामिन्द्रियवृत्तिः, अन्यथा तत्स्मृतेरनुपपत्तिः स्यात्, पूर्वानुभवस्य नष्टत्वात्।

न च संस्कारेणैव सा उपपद्यत इति वाच्यम्, समानविषययोः संस्कारानुभवयोरेकस्य विनाशेऽपरस्य तदभाव इति वक्तव्यत्वे विनिगमनाविरहात्। निष्पक्षपातिना भवता

साक्षात्कार करता है, तब उसका समस्त क्षुद्र पाशजाल महारुद्र के द्वारा कट जाता है। वह भूरुद्र, वीरमाहेश्वर हो जाता है। चिच्छक्ति के विकास से जीवभाव का विलय होने के कारण चिच्छक्तिविशिष्ट वह 'जीवन्मुक्त' हो जाता है। स्वशक्तिसंकोचकला का भी विलय होने के कारण फिर उसका जीवभाव कैसे टिक सकता है?

वेदान्तदर्शन अन्तःकरण की वृत्तियों को अनित्य मानता है। अतः वेदान्ती शङ्का उपस्थित करता है कि 'यतः अन्तःकरण की वृत्तियाँ अनित्य होती हैं; एक वृत्ति अपनी विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने तक स्थायी रहती है, घट आदि वृत्तियों को नित्य मानने पर घटादि के साथ चक्षु आदि का संयोग निरर्थक माना जायगा, घट देखकर फिर पट देखनेवाले व्यक्ति को पटज्ञान के समय घटज्ञान भी उपस्थित होगा; अतः वृत्तियों की अनित्यता स्वीकार करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में ब्रह्मीभूत उस जीव की भी अनित्यता माननी होगी, जिसकी बुद्धि 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस आकार की होगी, इस प्रकार बुद्धिशक्ति से विशिष्ट ब्रह्मीभूत जीव 'अनित्य'कोटि में आयेगा। क्योंकि यतः वृत्तियाँ अनित्य हैं, अतः जो वृत्तित्व से व्याप्य ब्रह्माकार वृत्तित्व से अवच्छिन्न होगा, उसको भी अनित्य मानना पड़ेगा। फलस्वरूप भवदीय वीरशैवदर्शनसम्मत शिवाद्वैतसिद्धान्त की हानि होगी। अतः आपको भी उस प्रकार की वृत्तियों की अनित्यता स्वीकार करनी चाहिए।'

परन्तु वेदान्तियों की यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि घटादिज्ञान करानेवाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ अनित्य नहीं, अपितु नित्य होती हैं। अपने से विरोधी

तदुभयस्यापि स्वविरोधिवस्तूत्पत्तौ नाशः स्वीकार्यः खलु। तत्स्वीकारे स्मृतेराकस्मिकत्वापत्तिः स्यात्।

न च फलबलकल्प्यं संस्कारस्य कारणत्वमिति चेदनुभवस्यैव तत्कल्प्यताम्, अवान्तरसंस्कारकल्पनस्याकिञ्चित्करत्वात्। संस्कारासत्त्वेऽप्युद्बोधकवशादनुभवेनैव स्मृतिसम्भवे तस्य कारणताग्राहकसामग्र्यभावात्। तस्माद् वृत्त्यनित्यत्ववादोऽयुक्तः।

किञ्च भो वृत्त्यनित्यत्ववादिन्! 'अहं ब्रह्मास्मी'ति वृत्तेर्विरोधिवृत्तेरभावात् कथं तन्नाशं ब्रवीषि? न च स्वात्मनाशः स्वेनैव भवतीति वाच्यम्, नाशनिरूपितकारणतायाः

पटादिज्ञापक वृत्तियों की उत्पत्ति के समय घटादिज्ञापक स्वीय वृत्तियों का संकोच-मात्र होता है, पटज्ञापक वृत्ति के आविर्भाव के समय घटज्ञापक वृत्ति का आवरण नष्ट नहीं होता, क्योंकि उसको नष्ट करनेवाली दूसरी इन्द्रियवृत्ति का वहाँ अभाव रहता है। अतः उस समय घट के ज्ञान की प्रसक्ति नहीं है। इन्द्रिय-संयोग आदि घटादिज्ञापक वृत्तियों को नष्ट करने के लिए नहीं, अपितु उनके आवरण को हटाने के लिए होता हैं, अतः उनको निरर्थक नहीं कहा जा सकता।

शाङ्करवेदान्तानुयायी चैतन्य में अवस्थित अज्ञान को हटाने के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' इस आकार की चित्तवृत्ति की 'व्याप्ति' स्वीकार करते हैं। उनसे वीरशैव-दर्शन के अनुयायी कहते हैं कि 'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता' इस वचनप्रामाण्य के अनुसार जिस प्रकार आप परब्रह्म में अवस्थित अज्ञान-निवारण के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' इस आकार की चित्तवृत्ति की व्याप्ति आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार आवरण-निवारण के लिए घटज्ञानप्रकाशक इन्द्रियवृत्ति को स्वीकार कीजिये। [ज्ञान दो प्रकार का होता है — अनुभवरूप और स्मृतिरूप। इन्द्रियसंयोग से उत्पन्न ज्ञान अनुभवरूप होता है और तदनंतर का ज्ञान स्मृतिरूप। इन्द्रियसंयोग संकेतित घटादिज्ञान का प्रकाशक होता है। जब तक सङ्केतग्रह नहीं होता, तब तक इन्द्रियसंयोग उस अज्ञानावरण को हटा नहीं सकता, जिससे घटादिज्ञान होता है। यही ज्ञान अनुभवरूप होता है। अतः इस अज्ञानावरण को दूर करने के लिए इन्द्रियवृत्ति को स्वीकार करना चाहिए, यही टीकाकार का आशय है।] अन्यथा इन्द्रियवृत्ति को अज्ञानावरणनिवारक न मानने पर, स्मरणरूप ज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियसंयोग के बिना उसके पूर्व का अनुभवरूप ज्ञान नष्ट हो जाता है।

अनुभव के नष्ट होने पर भी तज्जन्य संस्कार से ही स्मरणरूप ज्ञान हो सकता है, यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि अनुभव और तज्जन्य संस्कार के विषय समान

नाशप्रतियोग्यतिरिक्तेऽपि नियमेन विद्यमानत्वात्। नहि घटादीनां नाशो घटादिनैव भवति।

न च काष्ठादिजनितोऽग्नि: काष्ठादिकं दग्ध्वा स्वयमेवोपशाम्यतीति वाच्यम्, तत्रापि वायुकालादीनां नियमेन कारणत्वस्य वक्तव्यत्वात्। नहि त्वन्मते

हैं। इन दोनों में से एक नष्ट होने पर दूसरे का नाश नहीं होता, इस प्रकार का वक्तव्य देने के लिए कोई विनिगमक प्रमाण नहीं है। अत: निष्पक्ष दृष्टि से आपको भी घटादिज्ञान और तज्जन्य संस्कार के समय स्वविरोधी पटादिज्ञान और तज्जन्य संस्कार दोनों के उत्पन्न होने पर घटादिज्ञान और तज्जन्य संस्कार दोनों का नाश होता है, यह मानना पड़ेगा। और यह मानने में स्मृति की 'आकस्मिकता' उपस्थित होगी। [जब कि अनुभव और तज्जन्य संस्कार दोनों के बिना स्मृति की कल्पना नहीं की जा सकती। 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृति:।' अनुभवजन्य संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्मृति कहते हैं यह स्मृति की परिभाषा है। इस प्रकार अनुभव-जन्य संस्कार स्मृति की उत्पत्ति में कारण है और उसके बिना स्मृति की उत्पत्ति 'आकस्मिक' ही होगी, जो असंभव है।]

चैतन्यगत अज्ञान के आवरण को हटता हुआ देखकर यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि जो संस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है; वही अज्ञाननिवारण का कारण है। अज्ञाननिवारण वृत्तिव्याप्ति का फल है। उसे देखकर इस प्रकार की कल्पना करना समुचित नहीं। फिर अनुभव को ही साक्षात् अज्ञाननिवारण का कारण क्यों न माना जाय? उससे उत्पन्न अवान्तर संस्कार की कल्पना करना अकिञ्चित्कर है।

उद्बोधकता का सामर्थ्य साक्षात् अनुभव में है, उससे स्मृति उत्पन्न हो सकती है, उसके लिए तज्जन्य संस्कार की सत्ता आवश्यक नहीं, ऐसा मानने में ऐसी कोई सामग्री (प्रमाण) नहीं है, जो उसे कारण के रूप में स्वीकार करती हो।

अत: वेदान्तियों का 'वृत्यनित्यत्ववाद' (अखण्डाकार चित्तवृत्ति को अनित्य कहना) युक्तियुक्त नहीं है।

जो लोग 'चित्तवृत्ति चैतन्यस्थित अज्ञानान्धकार को हटाने के बाद नष्ट हो जाती है', ऐसा मानते हैं, उनसे वीरशैव प्रश्न करते हैं कि 'वृत्ति की अनित्यता स्वीकार करनेवाले महानुभाव ! आप 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) इस आकार की चित्तवृत्ति के नाश को किस आधार पर कहते हैं? क्योंकि जब तक दूसरी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक पहली का नाश नहीं होता। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस आकार

'कार्या'ज्ञाननाशोत्तरं चैतन्यमन्तरा कश्चिद् वाक्यजन्यवृत्त्यतिरिक्तपदार्थो विद्यते। किं कृतं भवता श्रवणादिप्रयासेन, यदर्थं श्रवणानुष्ठानम्, तन्नाशे निष्फलश्रमो भवेत्।

अनेकसाधनसम्प्राप्तान्तिमसच्चिदानन्दादिबुद्धिशक्तिरूपवृत्तेरपि नाशस्वीकारे स्वस्य सच्चिदानन्दादिस्वरूपसद्भावेऽपि किं फलम्? नहि किञ्चित्फलं रमणीविरहितत्वे रमणीयकेलीगृहरामणीयकतायाः। नह्युन्मत्तजनस्य विवेकबुद्धिशून्यस्य सदुपदेशादिना किञ्चित् फलं पश्यामः।

किं बधिरस्य सङ्गीतश्रवणेन, किं वा प्रयोजनमन्धस्य स्वस्वरूपलावण्यादिना? पाषाणादेः स्वस्वरूपाकारानुभवरूपवृत्त्यभावाज्जडत्वमिव जीवन्मुक्तस्य स्वस्व-

---

की चित्तवृत्ति के उदय के बाद दूसरी चित्तवृत्ति उदित नहीं होती। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है? 'अपना नाश अपने द्वारा ही होता है' ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि नाशनिरूपित कारणता नाशप्रतियोगी से भिन्न स्थल में भी नियमपूर्वक रहती है। घट आदि का नाश घट आदि के द्वारा नहीं होता।

यदि आप कहें कि जिस तरह शमी आदि लकड़ी से उत्पन्न आग उस लकड़ी को जलाकर स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी होता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि उस स्थल में भी आग स्वयं शान्त नहीं होती, अपितु उसको बुझाने में वायु, काल आदि निश्चित रूप से कारण होते हैं। आपके मत में अज्ञाननाश के बाद प्रकाशमय चैतन्य को छोड़कर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य से उत्पन्न चित्तवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं रहता। आपने गुरूपदेश के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के प्रयास से क्या प्राप्त किया, जिसलिए आपने यह सब किया? उसका नाश मानने पर आपका प्रयास व्यर्थ होगा।

यदि अनेक साधनों से प्राप्त चरम सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्माकार बुद्धिशक्तिरूप वृत्ति की नश्वरता स्वीकार की जाय, तो स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप होने का फल क्या होगा? रमणीय विहारगृह के सौन्दर्य का तब तक कोई फल नहीं, जब तक उसमें कोई सुन्दरी न हो। हम लोग विवेकबुद्धि से रहित उन्मादग्रस्त व्यक्ति को सदुपदेशादि देना व्यर्थ समझते हैं।

बहरे व्यक्ति को संगीत सुनने से क्या फायदा है? अन्धे को अपनी सुन्दरता का क्या उपयोग है? जिस प्रकार अपने स्वरूप, आकार आदि का अनुभव न होने के कारण पाषाण जड होता है, उसी प्रकार जब जीवन्मुक्त में स्वस्वरूप

रूपानन्दादिवृत्तिनाशे जडत्वं स्यात्। स्याच्च कैवल्योपनिषदुक्तस्य 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' इत्यभिनयपुरःसरं मुक्तपरमेष्ठिव्यवहारस्यासाङ्गत्यम्।

न च शरीरपातानन्तरं तादृशवृत्तिनाशाभ्युपगमान्न तद्व्यवहारस्यासङ्गतिरिति वाच्यम्। पुनस्तादृशवृत्तिसम्पादनाय पूर्वस्मिन्निव कर्माद्यनुवर्तनप्रसङ्गात्। तस्मान्नाऽनित्यत्वं वृत्तीनां वक्तव्यम्। तथा च बुद्धिशक्तेर्नित्यत्वान्न तद्विशिष्टस्यानित्यत्वम्।

पराहन्तामयस्वरूपानन्दादिकल्याणगुणरत्नरत्नाकरविषयिणीं प्रत्यक्षानुभवरूपां बुद्धिशक्तिविकासरूपचिच्छक्तिं पारमेश्वरीं प्रविष्टः प्रतिबुद्धोऽमृतत्वं विन्दते।

उक्तं च रेणुकागस्त्यसंवादे —

गलिते ममताहन्ते संसारभ्रमकारणे ।
पराहन्तां प्रविष्टस्य कुतो देहः कुतो रतिः ? ।। इति।

सच्चिदानन्दादि चित्तवृत्ति का नाश होगा, उसमें भी जडता आयेगी। ऐसी स्थिति में 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' (मैं केवल चिन्मय सदाशिवस्वरूप हूँ) यह कैवल्योपनिषद्-प्रतिपादित अभिनयपूर्वक किया गया मुक्त परमेष्ठी (सदाशिव) का व्यवहार असंगत होगा।

साथ ही यह कहना भी तर्कसङ्गत नहीं है कि शरीर छूटने के पश्चात् उस प्रकार की वृत्ति नष्ट होना संगत है, अतः पूर्वोक्त उपनिषद्-प्रतिपादित व्यवहार भी युक्तियुक्त है। क्योंकि जिस प्रकार पहले इस प्रकार की वृत्ति प्राप्त करने के लिए कर्मादि करने पड़े थे, उसी प्रकार पुनः उसके लिए कर्मादिबन्धन में पड़ना पड़ेगा। इसलिए वृत्तियों को अनित्य मानना ठीक नहीं है। यतः बुद्धिशक्ति अनित्य न होकर नित्य है, अतः उससे विशिष्ट चैतन्य भी अनित्य नहीं, अपितु नित्य है।

['येन प्रतिबोधविदितं मतम् सः प्रतिबोधवान्, प्रतिबुद्धः।' अर्थात् जो 'प्रतिबोध' अर्थात 'लिङ्गाङ्गसामरस्यविद्या' के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार करता है, वह 'प्रतिबोधवान्' अथवा 'प्रतिबुद्ध' होता है।] ऐसा जीव पराहन्तामयस्वरूप आनन्दादि-कल्याण-गुणरत्नों के रत्नाकर (समुद्र) को विषय बनानेवाली प्रत्यक्षानुभवस्वरूप बुद्धिशक्ति की विकासस्वरूपा परमेश्वर सदाशिव की चिच्छक्ति में प्रवेश करते हुए अमृतत्व को प्राप्त करता है।

जैसा कि रेणुका और अगस्त्य के संवाद के अन्तर्गत उल्लिखित है— 'संसार के भ्रम के दो कारण हैं—ममता और अहंता। इन दो कारणों से लोग

उक्तं च भट्टश्रीकल्लटाचार्येणापि —

> इयमेवामृतप्राप्तिरियमेवात्मनो ग्रहः ।
> इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ।।इति।

उक्तं चैतट्टीकाकारेणोत्पलाचार्येण —

> येयं स्वरूपसंवित्तिः सामृताप्तिरिहात्मनः ।
> जरामरणविच्छेदात् .... ।।
> निर्वाणदीक्षा तच्चेयं परमात्मनि योजिका ।। इति।

उक्तं च मोक्षधर्मेषु —

> हित्वा तु सर्वसङ्कल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत् ।
> सत्त्वे चित्तं यदा लीनं तदा कालजयी भवेत् ।। इति।

मिथ्यास्वरूप संसार को सच समझते हैं। इनके नष्ट होने पर जो जीव 'पराहन्ता' में प्रवेश करता है, उसका देह कहाँ रहता है? अथवा उसके प्रति अनुराग कहाँ रहता है? अर्थात् ऐसा जीव जीवन्मुक्तदशा को प्राप्त हो जाता है।'

इसीका समर्थन आचार्यश्री कल्लटभट्ट इस प्रकार करते हैं — 'पराहन्तामय सच्चिदानन्दस्वरूप सदाशिव ब्रह्म की साक्षात्कारमयी प्राप्ति ही अमृतत्वप्राप्ति अथवा आत्मसाक्षात्कार है। शिवसद्भाव को प्रदान करनेवाली यही निर्वाणदीक्षा है।'

टीकाकार उत्पलाचार्य ने भी इसी अर्थ को स्पष्ट किया है — 'सच्चिदानन्दमय प्रकाशस्वरूप जो स्वरूपसंवेदन होता है, वही आत्मा (जीवात्मा) की अमृतत्वप्राप्ति है, क्योंकि इस अवस्था में न तो जरा (बुढ़ापा) रहती है और न मृत्यु। दोनों का विच्छेद होता है। अजरता और अमरता यही है। यही निर्वाणदीक्षा है, जो परमात्मा से जीवात्मा का संयोजन करती है।'

यही बात महाभारत के अन्तर्गत मोक्षधर्मों का निरूपण करते हुए कही गयी है — 'काल पर विजय प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के प्रापंचिक संकल्पों का पारित्याग करते हुए 'सत्त्व' में चित्त का निवेश करना चाहिए। जब 'रजस्' और 'तमस्' का परित्याग करते हुए सत्त्व में चित्त का निवेश किया जाता है, तब सत्त्व में चित्त का विलय हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीव कालजयी हो जाता है।'

दीक्षार्थोऽयम् —

ददाति ज्ञानसद्भावं क्षपयत्यखिलं मलम् ।
बोधानुवेधाद् दीक्षोक्ता दानक्षपणधर्मिणी ।। इति।

उक्तं चायमेवार्थो रेणुकागस्त्यसंवादेऽपि —

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यस्मादत: समाख्याता दीक्षेत्येवं विचक्षणै: ।। इति।

न च शिवाद्वैतहानि:, तस्या आत्मरूपत्वात्। मणिद्युमणिप्रकाशवत्।

ननु प्रकाशस्य तदंशात्मकत्वात् प्रभाकरप्रभयोरभेद:। तद्वदेव ब्रह्मणोंऽशरूपा शक्तिरिति वदसि किम्? वदामि ते किं नश्छिन्नम्?

'दीक्षा'पदार्थ — 'जो ज्ञान-प्रकाश को प्रदान करती है और सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार का नाश करती है, उसे 'दीक्षा' कहते हैं। क्योंकि गुरु शिष्य में 'प्रतिबोध' अर्थात् शिवजीवैक्यबोध का संक्रमण करता है, जिसके द्वारा दीक्षा में एक ओर 'दान' का और दूसरी ओर क्षपण (त्याग) का धर्म रहता है।'

रेणुका और अगस्त्य के संवाद में यही बात कही गयी है — 'यत: 'दीक्षा'शब्द में अवस्थित दकार 'शिव'ज्ञान प्रदान करता है और 'क्ष'कार पाशबन्धन का क्षय (नाश) करता है, अत: बुद्धिमानों ने उसे 'दीक्षा' कहा है।'

इस प्रकार 'प्रतिबोध' और 'दीक्षा' शब्द की व्याख्या करने से शिव और जीव की अद्वैतस्थिति की हानि नहीं होती, क्योंकि जिस प्रकार मणि और सूर्य के प्रकाश में अभेद रहता है, उसी प्रकार, प्रतिबोध के समान ही, दीक्षा भी आत्मस्वरूप ही है।

फिर यदि आप यह प्रश्न करते हैं कि 'जिस प्रकार अंशस्वरूप होने के कारण प्रभाकर (सूर्य) और उसकी प्रभा (प्रकाश) में अभेद रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी स्वरूपाशक्ति भी एक-दूसरे से भिन्न न होकर अभिन्न है, क्या यही आपका आशय है?' इसके उत्तर में यदि हम 'हाँ' कहें, तो आपकी क्या हानि होगी?

निरवयवत्वश्रुतिव्याकोप इति न भ्रमितव्यम्। तस्याः प्राकृतांशनिषेधपरत्वात्, तैजसांशेन चक्षुरिन्द्रियेण तैजससूर्यादिग्रहाणामिव तच्छक्त्यैव परशिवब्रह्मणो ग्रहणमिति वक्तव्यत्वात्। तादृशात्मशक्तिप्राप्तिरेवादौ सम्पादनीया। अत एवोपनिषदि —

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।'

इति श्रूयते, श्रूयते च 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति। विद्वद्भिः शक्तिपात-पवित्रितहृदयैरियमेव चिच्छक्तिः प्रतिबोधशब्दवाच्येति विमर्शनीयम्।

गुरुलिङ्गजङ्गमप्रसादविरहाद् अनभिभूतगाढाज्ञाननिद्राबद्धबौद्धशक्तीन् गुण-महदहङ्कारभूतभौतिकविषयजातानि घोरसंसारे पातयन्ति आप्रतिबोधप्राप्तेः। तस्मात् कथं नरः प्रतिबोधं तच्छक्तिं विन्दत इत्यत आह —

साथ ही यह भ्रम भी नहीं पालना चाहिए कि ऐसी व्याख्या करने से 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतिवचन अप्रामाणिक होंगे। क्योंकि ये वचन उसके प्राकृत (भौतिक) अंश का ही निषेध करते हैं, दिव्य अंश का नहीं। हमारा अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तेज के अंशस्वरूप नेत्र द्वारा तेजोमय सूर्य का साक्षात्कार किया जाता है, उसी प्रकार उसकी परब्रह्म की अपनी विमर्शशक्ति (चिच्छक्ति) के द्वारा ही सदाशिवस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। अतएव सर्वप्रथम हमें उस प्रकार की आत्मशक्ति का ही सम्पादन करना चाहिए।

इसीलिए उपनिषद् में इस अर्थ का भी श्रुतिवचन है कि 'ऋषि-मुनियों ने ध्यानयोग का अनुगमन (अनुसरण) करते हुए अपने गुणों से आच्छादित परमशिवस्वरूप परब्रह्म की आत्मशक्ति (चिच्छक्ति) का साक्षात्कार किया।' साथ ही इस अर्थ का भी श्रुतिवचन है कि 'इस परमात्मा का साक्षात्कार बल (चिच्छक्ति) से रहित नहीं कर सकते।' जिनका हृदय शक्तिपात से पवित्र हुआ है, ऐसे विद्वानों को यह विमर्श अवश्य करना चाहिए कि 'यही सदाशिवस्वरूप परब्रह्म की चिच्छक्ति 'प्रतिबोध' शब्द द्वारा सम्बोधित होती है।'

अब यह जिज्ञासा होती है कि आठ आवरणों में से जब तक गुरु, लिङ्ग, जङ्गम और प्रसाद ये चार आवरण नहीं रहते, तब तक प्रकृष्ट गाढ अज्ञाननिद्रा से जीव की बुद्धिशक्तियाँ बन्धन में रहती हैं। ऐसे जीवों को सत्त्व, रज, तमोगुण, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चमहाभूत और उनके भौतिक विषयसमूह प्रतिबोध

'आत्मना विन्दते वीर्यमि'ति। आत्मना शुद्धेन स्ववशीकृतभूतभौतिकेन वीर्यं शक्तिं पूर्वोक्तां प्रतिबोधशब्दवाच्यां विन्दते। नह्यशुद्धात्मदेहादिकमेवात्मत्वेन मन्यमानस्तां विन्दते। तस्मादात्मनः शुद्धिरपेक्ष्यते।

सा च द्विविधा — जीवस्य शिवभावापादनरूपा जीवशुद्ध्यात्मिका, पूजकजीवस्य शिवदेहत्वापादनात्मिका देहशुद्धिरूपा च। एतच्छुद्धिद्वयप्रकारस्यापि क्रियासारे चतुर्दशोपदेशे विस्तरेणाऽभिहितत्वात् तत एवावगन्तव्यम्। शिवसूत्रेष्वप्युक्तम् — 'शरीरे संहारः कलानाम्' इति।

स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयतद्गतपृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वानि वीरशैवसम्प्रदायानुसारेण परशिवलिङ्गं समर्प्य शुष्कस्थाणुमिव कालाग्निना दग्ध्वा वा तेषां दाहादिभावनां

(चिच्छक्ति) का साक्षात्कार होने तक घोर संसारसागर में गिराते हैं। फिर जीव किस प्रकार सदाशिव की चित्शक्तिस्वरूप 'प्रतिबोध' को प्राप्त करता है? इसका समाधान है—'आत्मना विन्दते वीर्यम्।'

जब शुद्ध जीवात्मा पञ्चमहाभूत और भौतिक विषयों को अपने वश में कर लेता है, तब वह 'वीर्य' अर्थात् 'प्रतिबोध' शब्द से संबोधित पूर्वप्रतिपादित चिच्छक्ति को प्राप्त करता है, न कि अशुद्ध अज्ञानान्धकार से आवृत देहादि को ही आत्मा समझनेवाला जीव। अतः जीवात्मा की शुद्धि करना अर्थात् पञ्चमहाभूत तथा भौतिक विषयों को अपने वश में करना अत्यन्त आवश्यक है।

वह शुद्धि दो प्रकार की है—प्रथम जीव को शिवत्व प्राप्त करानेवाली जीव-शुद्धि और दूसरी पूजक जीव के देह को शिवदेह के रूप में परिणत करनेवाली देहशुद्धि। क्रियासार के चौदहवें उपदेश में इन दोनों प्रकार की शुद्धियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। वहीं से उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। 'शिवसूत्र' में भी यही प्रतिपादित है—'शरीरे संहारः कलानाम् (त्रिविध शरीर में सकल कलाओं का विलय होता है।)

तीन प्रकार के देह (शरीर) होते हैं — स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह और कारणदेह। उनमें पृथ्वी से लेकर शिव तक छत्तीस तत्त्व रहते हैं। वीरशैव-सम्प्रदाय के अनुसार इस त्रिविध शरीर और उनमें रहनेवाले छत्तीस तत्त्वों को सदाशिवस्वरूप परमशिवलिङ्ग में समर्पित करना चाहिए। तदनन्तर अग्नि जिस प्रकार सूखी लकड़ी को जलाती है, उसी प्रकार काल के रूप में वर्तमान अग्नि के द्वारा त्रिविध शरीर

कृत्वा शिवं ध्यायेत्। ध्यानदार्ढ्ये च शिवप्रसादाद् आविर्भूतां 'चिच्छक्तिसर्वात्मकशिवोऽहमि'ति शुद्धविद्यारूपां विन्दत इत्यर्थः। तत्सूत्रितं शिवेन 'मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः' इति।

तदनन्तरं वीर्यरूपया विद्यया सहजापरोक्षरूपया 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतेः, अमृतं शाश्वतं परशिवलिङ्गरूपं परपदं विन्दते।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।

इति श्वेताश्वतरश्रुतेः।

और छत्तीस तत्त्वों को भस्मसात् करने की भावना करनी चाहिए। पश्चात् परब्रह्मस्वरूप सदाशिव का ध्यान करना चाहिए। परमशिव के ध्यान में दृढता रहने पर उसे उस परमशिव का कृपाप्रसाद प्राप्त होता है, जिसके कारण चिच्छक्ति (वीर्य) का आविर्भाव होता है। वह चिच्छक्ति शुद्धविद्यास्वरूपिणी है, जिसका आकार है— 'चिच्छक्तिसर्वात्म-कशिवोऽहम्।' (मैं जीवात्मा चिच्छक्ति से अभिन्न सर्वात्मक परमशिवस्वरूप हूँ।) 'शिवसूत्र' भी इसका समर्थन करता है— 'मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः।' अर्थात् त्रिविध शरीर और छत्तीस तत्त्वों को भस्मवत् समझने से जब मोहभङ्ग होता है, तब उसके द्वारा चितिशक्ति का अनन्त विस्तार होता है। उससे स्वाभाविक शुद्धविद्यास्वरूपा चिच्छक्ति पर विजय प्राप्त होती है, वह अवश्य मिलती है।

विद्यया विन्दतेऽमृतम् — वीर्यस्वरूपा वह शुद्धविद्या सहज तथा अपरोक्षस्वरूपा है, जैसा कि श्रुतिवचन है—'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।' उसी साक्षात् अपरोक्ष सहज शुद्धविद्या द्वारा परमसदाशिव ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जरा-मरणरहित होने के कारण वह परमशिवलिङ्गस्वरूप परमपद 'अमृत'स्वरूप शाश्वत है। मोहभङ्ग के बाद त्रिविध शरीर और छत्तीस तत्त्वों को भस्मवत् समझते हुए जीवन्मुक्त शुद्ध जीव वीर्यस्वरूपा शुद्धविद्या के द्वारा उसी 'अमृत'पद को प्राप्त करता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' का कथन है —

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।

'शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिरि'त्यपि शिवेन सूत्रितम्। उक्तं च स्वच्छन्दे—

वेदनादिकधर्मस्य परमात्मत्वबोधना ।
वर्जनात् परमात्मत्वे तस्माद् विद्येति सूच्यते ।।
तत्रस्थो व्यञ्जयेत् तेजः परं परमकारणम् ।
तस्मिंश्च तेजसि व्यक्ते तत्रस्थः शिवतां व्रजेत् ।। इति।

इदमत्र शिवयोगरहस्यं किञ्चित् प्रदर्श्यते। 'ऊर्ध्वाय नमः, ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः' इत्यादिश्रुत्युक्तानि लिङ्गानि शिवयोगशास्त्रोक्तप्रकारेण उच्चारकरणध्यानवर्ण-

---

वह परमशिवलिङ्ग 'भावलिङ्ग' है; यतः उसकी सत्ता (अस्तित्व, भाव) है, वही सत्ता उसका साक्षात्कार कराती है; अतः उसे 'भावलिङ्ग' कहते हैं। अथवा 'भाव' का अर्थ है चितिशक्तिस्वरूप विशुद्धचित्त। उसके द्वारा ग्राह्य होने के कारण उसे 'भावलिङ्ग' कहते हैं। [इस मंत्र की विस्तृत व्याख्या 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (के० उ० १.३) मंत्र की 'भावार्थदीपिका' में द्रष्टव्य है।]

'शिवसूत्र' का सूत्र है—'शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः।' शुद्धविद्यास्वरूपा चिच्छक्ति के आविर्भाव के बाद 'चक्रेशत्व' की सिद्धि अर्थात् शिवपद की प्राप्ति होती है।

विद्या (शुद्धविद्या) — जैसा कि 'स्वच्छन्दतन्त्र' का वचन है 'दुःख, सुख आदि बुद्धि के धर्म हैं। सत्त्व, रज और तमोगुण बुद्धि में वर्तमान रहते हैं। जब सत्त्वांशविशिष्ट चित्त पर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब तमोगुणांश से उत्पन्न अविद्या के कारण जीवात्मा उस प्रतिबिम्ब को ही परमात्मा समझकर बुद्धि के धर्म दुःख-सुखादि को परमात्मा के धर्म समझता है। शुद्धविद्या यह ज्ञान कराती है कि दुःख, सुख आदि धर्म परमात्मा में नहीं रहते, बुद्धि में रहते हैं। तुम जिसे परमात्मा समझ रहे हो, वह चित्त पर पड़नेवाला उसका प्रतिबिम्ब है, साक्षात् परमात्मा नहीं। 'प्रतिबोध' शब्द से सम्बोधित सहज अपरोक्षस्वरूप 'वीर्य' अथवा 'चिच्छक्ति' ही शुद्धविद्या है। उसमें वर्तमान जीवात्मा परमकारणस्वरूप तेज (प्रकाश) को अभिव्यक्त करता है और उस तेज के अभिव्यक्त होने पर उसमें अवस्थित जीवात्मा शिवभाव को प्राप्त होता है।

शिवयोगरहस्य — इस विषय में शिवयोगरहस्य का कुछ उद्घाटन आवश्यक है। 'ऊर्ध्वाय नमः, ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः' ये श्रुतिवचन ऊर्ध्व, ऊर्ध्वलिङ्ग

स्थानप्रकल्पनैः शुद्धेन मनसैव सम्यगवगाह्य तत्र ऊर्ध्वशब्दवाच्यां पश्चिमचक्रान्तर्गतां चिच्छक्तिं शुद्धविद्यां चित्तेन सह समारुह्य शक्तिविशिष्टम् ऊर्ध्वलिङ्गशब्दितं परशिवमन्तरर्चयेत्।

अन्तरार्चनाङ्गत्वेन तदावाहनस्थापनाभिमुखीकरणसन्निरोधनावकुण्ठनसकलीकरणपरमीकरणामृतीकरणानि कार्याणि वीरशैवशास्त्रोक्तक्रमेण। अन्यथा सर्वव्यापकस्य तस्य महादेवस्य आवाहनाद्यसम्भवः स्यात्।

एवमभ्यस्तयोगेन साक्षात्काररूपां चिच्छक्तिं प्राप्य स्वचित्तदशां विगमय्य देहकलास्थितिपर्यन्तं तत्सदृशो भूत्वा तद्विलापे 'अहिकुण्डल'न्यायेन अमृतं तं विन्दते, परशिवानन्दसमुद्रसमरस एव भवति —

आदि लिङ्गों का प्रतिपादन करते हैं। शिवयोगशास्त्र में वर्णित विधि से इनका उच्चारण, ध्यान, वर्णों के स्थान आदि की कल्पना करते हुए शुद्ध अन्तःकरण से उनका समीचीनरूप से अवगाहन (बोध) करना चाहिए। फिर उनमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा जाता है, पश्चिमचक्र में रहनेवाली परमेश्वर की चिच्छक्तिस्वरूपा शुद्धविद्या पर चित्त के साथ आरूढ होना चाहिए। उसके बाद चिच्छक्तिविशिष्ट उस परमेश्वर (परमशिव) का 'अन्तरार्चन' (मानसपूजन) करना चाहिए, जिसे 'ऊर्ध्वलिङ्ग' शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

'अन्तरार्चन' अथवा मानसपूजन के अङ्ग हैं उस परमेश्वर का आवाहन, स्थापन, सम्मुखीकरण, सन्निरोध, अवकुण्ठन, सकलीकरण, परमीकरण और अमृतीकरण; जिनका अनुष्ठान वीरशैव-दर्शनशास्त्र में वर्णित क्रम का अनुसरण करते हुए करना चाहिए। अन्यथा सर्वव्यापक उस महादेव (परमेश्वर) का आवाहन आदि अनुष्ठान असम्भव ही होगा।

इस प्रकार योगाभ्यास करते हुए साक्षात्कारस्वरूपा परमशिव की चिच्छक्ति को प्राप्त करना चाहिए, उसका साक्षात्कार करना चाहिए और अपनी चित्तदशा का उसमें विलय करना चाहिए। फिर देहकलास्थितिपर्यन्त परमशिवसदृश होना चाहिए।

परमशिव एवं उसकी विमर्शस्वरूपा चिच्छक्ति निरवयव तथा निराकार है। जब मानवयोनि में रहनेवाला जीवात्मा उस चिच्छक्ति को योगाभ्यास से प्राप्त करता है और अपनी चित्तदशा का उसमें विलय करता है, तब वह परमशिव के वियोग

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरूषमुपैति दिव्यम् ।।
इति श्रुतेः —
कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम् ।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति सर्वदा ।।

इति स्मृतेश्च। पाशाश्रयत्वात् पशुकर्मणां तानि सन्त्यज्य पतिकर्मानुष्ठानतो बुद्धिप्रसादानन्तरं सत्त्वशुद्धिं प्राप्य शिवोऽहमिति बुद्धिशक्तिविकासानन्तरं परशिव एव भवति;

में विलाप करता है। ऐसी स्थिति में वह 'अमृत' (जरा-मरणस्थिति से मुक्त) उस परमशिवपद को 'अहिकुण्डलन्याय' से प्राप्त करता है, उसका साक्षात्कार करता है। यहाँ **अहिकुण्डलन्याय** का यह अर्थ है कि जिस प्रकार दण्डाकार सर्प और उसकी वर्तुलाकृति एक दोनों से भिन्न न होकर अभिन्न हैं, दोनों ही सर्प के ही रूप हैं, उसी प्रकार अघटितघटनापटीयसी परमशिव की निरवयव चिच्छक्ति और उससे प्रकट होनेवाली विश्व की सावयव वस्तुएँ भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं। इसी 'अहिकुण्डलन्याय' से मानवयोनि में अवस्थित जीवात्मा चिच्छक्ति से विशिष्ट परमशिव का साक्षात्कार करता है और विश्व की समस्त वस्तुओं को परमशिव-स्वरूप ही देखता है। योगाभ्यास से चिच्छक्ति में चित्तदशा का विलय करने से ही यह सम्भव होता है। देहकलास्थितिपर्यन्त परमशिवसदृश होने के बाद परमशिव के वियोग में जब जीव तड़फता है, तब उसकी पूर्वोक्त स्थिति होती है।

नदीसमुद्रन्याय से जीवात्मा परमशिव में विलय प्राप्त करते हुए आनन्दसमुद्र के साथ सामरस्य को प्राप्त करता है। श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है, जिसमें 'नदीसमुद्रन्याय' के द्वारा इसीका समर्थन किया गया है। इस श्रुतिवचन का भावार्थ इस प्रकार है—'जिस प्रकार प्रवाहशील नदियाँ अपना नाम और रूप छोड़कर समुद्र में विलय प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार विद्वान् (शुद्धविद्यासम्पन्न जीव) अपना नाम और रूप छोड़कर दिव्य परम शिवभाव को प्राप्त कर उसमें विलीन हो जाता है।

स्मृतिवचन **कीटभ्रमरन्याय** के द्वारा इसी जीवशिवैक्यस्थिति का इस प्रकार समर्थन करता है — कीड़ा भ्रमर के सम्पर्क में आकर भ्रमर बन जाता है। 'कीटभ्रमरन्याय' से (मानव) योनि प्राप्त करनेवाला जीव भी परमशिव के सम्पर्क में आकर उसी परमशिव में विलीन हो जाता है।

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।।

इति श्रुतेः।

ननु ध्यानादीनां चित्तशुद्धिमात्रप्रयोजकत्वाद् ब्रह्मापरोक्षामृतपदानुपयुक्तत्वाद् अपरोक्षस्याज्ञानग्रन्थेरपरोक्षज्ञाननिवर्त्यत्वौचितत्वात्,

---

यतः 'पशुकर्म' पाश (बन्धन) का आश्रय लेते हैं; जीव को बन्धन में डाल देते हैं; अतः उन्हें छोड़कर जो जीव 'पतिकर्म' का अनुष्ठान करते हैं, उनकी बुद्धि निर्मल होती है, उसमें सात्त्विकता आ जाती है। इसी सात्त्विक शुद्धता (निर्मलता) को पाकर बुद्धि की चिच्छक्ति का विकास होता है और जीव अनुभव करता है— 'शिवोऽहम्' (मैं शिवस्वरूप हूँ।) फलतः वह परमशिव हो जाता है।

उसमें ये श्रुतिवचन प्रमाण हैं, जिनका अर्थ इस प्रकार है — 'अज्ञानान्धकार के हटने से जब ज्ञान निर्मल हो जाता है, तब उसकी शुचिता से सात्त्विकबुद्धि शुद्ध हो जाती है और जीव ध्यान करते हुए कलारहित परमशिव का साक्षात्कार करता है।'

'जीवात्मा स्वयं को अरणि तथा प्रणव (ओङ्कार) को उत्तरारणि बनाकर निरन्तर एकाग्र अन्तःकरण से दृढतापूर्वक ध्यान का अभ्यास करते हुए अन्तर्मुख स्थिति में प्रकाशस्वरूप देदीप्यमान परमशिव का साक्षात्कार करे।'

पूर्वपक्ष — सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार परमेश्वर के ध्यान का वर्णन उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार खरगोश को सींग का होना। इसके अनेक कारण हैं —

(१) ध्यान आदि केवल अन्तःकरण की शुद्धि (निर्मलता) के निमित्तकारण हैं।

(२) वे परब्रह्मस्वरूप अपरोक्ष (साक्षात्) 'अमृत'पद की प्राप्ति के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

(३) अपरोक्ष अज्ञानग्रन्थि अपरोक्ष ज्ञान का निवारण करती है, यही मानना युक्तियुक्त है। इसमें 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' यह श्रुतिवचन प्रमाण है, जिसका अर्थ है — 'उस परमेश्वर का साक्षात्कार (ध्यान) होने पर अन्तःकरण की

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

इति श्रुतेः। किञ्च, सर्वव्यापकस्य निरालम्बस्य ब्रह्मणो मूर्तत्वाभावाद् हृदयादौ किञ्चिदुपास्यमालम्बनीकृत्य तदुपासनसाध्यत्वेऽमृतत्वस्यानित्यत्वापत्तेः।

अत एव शङ्कराचार्येण भगवतापि — "आत्मविज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते? न, आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते। नालम्बनपूर्वकं विन्दते" इत्युक्तम्। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्यात्मनश्चाज्ञानाद्यशुद्धेः सत्यत्वाभावात् तस्याः ज्ञानमात्रबाध्यत्वात्। तस्मात् सत्यत्वे च भवदभिमतध्यानादपि नाशायोगात्।

किञ्च — ध्यानं नाम चिन्ता, चिन्ता च स्मृतिः, 'ध्यैचिन्तायाम्; चितिस्मृत्या-मि'त्यनुशासनात्। स्मरणं च पूर्वानुभूते सम्भवति। न च तत्सम्भवोऽस्ति निर्गुणनिरञ्जनानन्दैकरसस्य परंज्योतेरनिर्देशस्यानुपमस्य पूर्वाननुभूतस्य परब्रह्मणः

अज्ञानग्रन्थि का भेदन होता है, सभी प्रकार के संशय मिट जाते हैं और कर्मपाश क्षीण हो जाते हैं।'

(४) यतः सर्वव्यापक निराधार परब्रह्म परमात्मा की कोई मूर्ति, प्रतिमा अथवा आकार नहीं है, अतः यदि हृदयादि में किसी उपासनायोग्य को आलम्बन बनाकर उसकी उपासना को साध्य माना जाय, तब 'अमृतपद' को नित्य (शाश्वत) नहीं, अपितु अनित्य मानना पड़ेगा।

भगवान् आदिशङ्कराचार्य इसीका प्रतिपादन करते हैं —'क्या आत्मा (परमात्मा) के विशिष्ट ज्ञान से अमृतत्व उत्पन्न किया जाता है? नहीं। यतः जीवात्मा नित्य और परमात्मा के स्वभाव का है, अतः वह स्वयं ही जरा-मरण की स्थिति को पार करनेवाले अमरत्व को प्राप्त करता है, किसीको आलम्बन बनाकर अथवा किसीका आश्रय लेकर नहीं।'

(५) यतः परमात्मा नित्य, शुद्ध-बुद्ध और मुक्तस्वभाव है, उसमें अज्ञान आदि अशुद्धि (मल) नहीं रहती, उसमें उसका अभाव होता है; अज्ञानादि अशुद्धि का केवल ज्ञान के द्वारा ही ब[illegible] होता है; अतः उस परमात्मा में आपको अभिमत ध्यान करने पर भी उस अज्ञानादि अशुद्धि का नाश नहीं होगा।

(६) और भी, 'ध्यान' का अर्थ है 'चिन्ता'। क्योंकि 'ध्यै चिन्तायाम्' इस धातुपाठ के अनुसार चिन्तार्थक '[illegible] धातु से 'ध्यान' शब्द निष्पन्न है। उसी प्रकार

शिवलिङ्गस्य। अन्यथा 'सा गङ्गा सा माता' इत्यादिवत् कालान्तरदेशान्तर-वर्तित्वस्यावश्यकत्वात् परिच्छिन्नत्वं स्यात्। स्याच्च —

"सर्वव्यापी च भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।।"

इत्याद्यनेकश्रुतीतिहासपुराणादेर्विरोधः।

किञ्च, नीरूपस्य परब्रह्मणश्चाक्षुषत्वाद्ययोगात्, 'अरूपमद्भुतमि'ति श्रुतेर्न च मनसाऽप्यवगाहनीयत्वं सम्भवति; एकस्मिन् दृष्टेऽपरस्य तत्सजातीयस्य मनसाव-

---

'चिन्ता' का अर्थ है 'स्मृति'। क्योंकि 'चिति स्मृत्याम्' इस धातुपाठ के अनुसार स्मृत्यर्थक 'चिति' धातु से 'चिन्ता' शब्द निष्पन्न है। स्मृति (स्मरण) उसीकी सम्भव है, जिसका अनुभव पूर्व में किया गया हो। परमात्मा के साक्षात्कार के विषय में यह सम्भव नहीं, क्योंकि उस परमशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म की पूर्वानुभूति किसीको नहीं होती, जो निर्गुण, निरञ्जन, आनन्दैकरस, परमज्योतिर्मय अनिर्देश्य और अनुपम है। उस परब्रह्म की पूर्वानुभूति को सम्भव मानने पर उस अनुभवात्मक ज्ञान की स्मृति देश-काल की परिधि में आने से परिच्छिन्न (सीमित) होगी। उदाहरणार्थ एक बार विशेष पर्व के अवसर पर किसी तीर्थ में गङ्गा का दर्शनादि करने पर दूसरी बार उसको देखकर 'सा गङ्गा, सा माता' (यह वही गङ्गा है, यह वही माता है) इस प्रकार की स्मृति होती है, जो देशकाल की परिधि में रहने से सीमित है, यही स्थिति परमशिव के साक्षात्कार के समय होगी और परमशिव का साक्षात्कार देश-काल की परिधि में आने से सीमित होगा, परिच्छिन्न नहीं होगा, जब कि परमात्मा देशकालातीत है। और इससे 'सर्वव्यापी च भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः' (भगवान् सवैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा सबको व्याप्त करनेवाला, अतएव परमशिव सर्वत्र अवस्थित है।) इत्यादि श्रुति, पुराण, इतिहास आदि के अनेक वचनों का विरोध होगा, वे असंगत होंगे।

(७) परब्रह्म परमात्मा रूपहीन है, 'अरूपमद्भुतम्' (परब्रह्म परमात्मा रूपहीन है, परमाश्चर्य है!) यह श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है। उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष असम्भव है। उसका मानस प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं। क्योंकि उसीका मानस प्रत्यक्ष सम्भव होता है, जिसको एक बार देखने पर उसके सजातीय का मानस प्रत्यक्ष युक्तियुक्त माना जाता हो। जो रूपहीन हो, समान अथवा अधिक परिमाण से शून्य हो, उसका मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

गाहनस्य युक्तत्वात्। दृष्टे कलभे गजराजस्य महेन्द्रवाहनस्यापि मनसावगाहनं युज्यते; नीरूपस्य समाधिकशून्यस्य मनसावगाहनस्याऽयुक्तत्वात्।

यदपि सगुणध्यानम्, तदप्ययुक्तम्, ध्यानस्य स्मरणरूपस्याऽनुभवमन्तरेणाप्रवृत्तेः। अनुभूतेऽपि तस्मिन् करचरणादिविशिष्टे चन्द्रचूडे मायापाशविशिष्टतत्पूजाध्यानादिसाधनसमुदायस्य असत्फलपर्यवसायित्वापत्तेः शशशृङ्गायते सगुणनिर्गुणयोः ध्यानोपवर्णनम् इति पूर्वपक्षविक्षेपे प्राप्ते ब्रूमः — स्मृतिरूपस्य ध्यानस्य दार्ढ्ये तस्य दर्शनरूपत्वाभ्युपगमात्र 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतिविरोधः। अन्यथा,

---

इन सात कारणों से निर्गुण-निराकार के ध्यान का वर्णनादि नहीं किया जा सकता।

सगुण साकार परमात्मा का ध्यान करना भी असम्भव है। क्योंकि 'ध्यान' का अर्थ है स्मरण। अनुभव के बिना स्मरण में प्रवृत्ति नहीं होती। परमात्मा के अनेक ध्यान मिलते हैं। उनके अनुसार द्विभुज, चतुर्भुज आदि कर-चरणों से सुशोभित चन्द्रशेखर का साक्षात्कार करने पर उनकी पूजा तथा ध्यानादि उपचार-सामग्री की परिणति उसके मायापाश से संवलित होने के कारण असत्फलदायिनी होगी। इन कारणों से सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार परमात्मा के ध्यानादि का वर्णन करना उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार खरगोश को सींग का होना। यही पूर्वपक्ष का आशय है।

वीरशैवदर्शनसम्मत उत्तरपक्ष — 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इस श्रुतिवचन को प्रमाण मानकर पूर्वपक्ष का यह प्रतिपादन तर्कसङ्गत नहीं है कि 'ध्यान' के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का विमर्श करने पर वह केवल स्मरण अर्थ का ही बोध कराता है, दर्शनात्मक अर्थ का नहीं। अतः अपरोक्ष अज्ञानग्रन्थि अपरोक्ष ज्ञान का निवर्तन तभी करती है, जब परमात्मा का ध्यान किया जाता है। अन्यथा उक्त श्रुतिवचन की सङ्गति नहीं बैठेगी। क्योंकि जब चित्त की एकाग्रता से स्मृतिरूप ध्यान अन्तःकरण में दृढ होता है, उसमें दृढता आती है, तब ध्यान करने पर परमात्मा का केवल स्मरण नहीं होता, अपितु अन्तःकरण के पटल पर उसका दर्शन (साक्षात्कार) होने लगता है, इस प्रकार स्मरणरूप ध्यान के दर्शनरूप साक्षात्कार की सङ्गति लग जाती है और 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस श्रुतिवाक्य का विरोध नहीं होता।

यदि ऐसा न माना जाय, तब 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इस श्रुतिवचन की समानान्तर 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' इस श्रुतिवाक्य का विरोध होगा। इसका अर्थ

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्ध्या ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे (स्मृतिध्रौव्ये) सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।

इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यात्।

यदप्युक्तम्, सर्वव्यापकस्याखण्डस्य मूर्तत्वाभावादिति, तदपि श्रुतिविरुद्धम्।

"इष्टमूर्जं तपसानु यच्छति सर्वदा तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः",

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।

इत्यादिश्रुत्या सच्चिदानन्दात्मकस्य घृतकाठिन्यन्यायेन लिङ्गमूर्तित्वावगमात्। अचिन्त्यानन्तशक्तिकस्य परशिवस्य —

है — 'आहार की शुचिता रहने पर अर्थात् सात्त्विक आहार ग्रहण करने पर अन्तःकरण के रज और तमोगुण को हटाकर उसका सत्त्वांश निर्मल होता है। सात्त्विक शुचिता से परमेश्वर का स्मरण (ध्यान) निश्चित होगा। स्मृति के होने पर अन्तःकरण की सभी अज्ञानग्रन्थियाँ खुलेंगी और उनमें ज्ञान का प्रकाश फैलेगा।'

वस्तुतः सात्त्विक शुचिता से जीवात्मा को परमात्मा का जो स्मरण (ध्यान) होता है, वह दृढ होने पर साक्षात्कार का रूप लेता है, केवल स्मृतिरूप नहीं रहता। इस प्रकार दोनों श्रुतिवचनों की सङ्गति लग जाती है; विरोधप्रतीति नहीं होती।

'सर्वव्यापक अखण्ड परमात्मा अमूर्त है, अतः उसका ध्यानादि असम्भव है' यह पूर्वपक्ष का कथन युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा मानने पर 'इष्टमूर्जं तपसाऽनु यच्छति', 'भावग्राह्यमनीडाख्यम्' आदि श्रुतिवचन सिद्धान्तविरोधी होंगे। इनके द्वारा सच्चिदानन्दस्वरूप परमशिव की लिङ्गमूर्ति का बोध होता है।

'इष्टमूर्जम्' यह श्रुतिवचन शिव के 'इष्टलिङ्ग' और 'प्राणलिङ्ग' का बोधन कराता है, जिसका अर्थ इस प्रकार है — 'त्रिविध लिङ्ग में तपश्चरण के द्वारा शरीर में धारण करने योग्य जो स्फटिकादि स्थूल प्रकाशमय लिङ्ग प्रकट होता है, उसे 'इष्टलिङ्ग' कहते हैं। मनोयोग से जिसका साक्षात्कार किया जाता है, उसे 'प्राणलिङ्ग' कहते हैं।' 'भावग्राह्यमनीडाख्यम्' यह श्रुतिवचन परमशिव के 'भावलिङ्ग' का ज्ञापक है, जिसका अर्थ 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (के० उ० १. ३) मन्त्रव्याख्या के सन्दर्भ में किया गया है।

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधिमवधायाऽऽत्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्याऽमृतमये
दधत्यन्तःसत्त्वं किमपि यमिनस्तत् किल भवान् ।।
उपासनार्थमन्तःस्थं परिच्छिन्नं स्वमायया'

इत्युक्तप्रकारेण वास्तवपरिच्छेदसम्भवाद् हृदयपुण्डरीकाद्युपासनं सङ्गच्छते; 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इति श्रुतेः। न चामृतत्वस्यानित्यत्वापत्तिः,

---

पूर्वोक्त श्रुतिवचन **घृतकाठिन्यन्याय** से परमशिव की लिङ्गमूर्ति के ज्ञापक हैं। जिस प्रकार द्रवीभूत घृत जमकर मूर्तस्वरूप धारण करता है, उसी प्रकार परमशिव 'इष्टलिङ्ग' के रूप से शरीर में, 'प्राणलिङ्ग' के रूप से मन में और 'भावलिङ्ग' के रूप से बुद्धि में प्रकट होता है, यही 'घृतकाठिन्यन्याय' का तात्पर्य है।

'मन को विधिपूर्वक अन्तर्मुख करते हुए हर्षपुलकित आनन्दाश्रुपरिपूरितदृष्टि योगी प्राणायामपूर्वक समाधिस्थ होकर अमृतसरोवर में मानो निमग्न होकर आनन्दस्वरूप परब्रह्म के जिस किसी सात्त्विक स्वरूप को अन्तःकरण में प्रतिष्ठित करते हैं, वही आप हैं।'

'अनन्त अपरिमित परमशिव उपासना के लिए अपनी माया के द्वारा परिच्छिन्न, सीमित होकर भक्तों के अन्तःकरण में (मूर्ति के रूप में) प्रतिष्ठित रहते हैं।' इस प्रकार अचिन्त्य अनन्तशक्तिसम्पन्न परमशिव का वास्तविक परिच्छेद सम्भव होने से (ध्यानादि उपाय के द्वारा) हृदयकमल में अवस्थित उसके अन्तरार्चन (मानसपूजा) की सङ्गति लग जाती है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (परमशिव अणुपरिमाण से अणुतम और महत्परिमाण से महत्तम है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा है।) यह श्रुतिवचन भी इसमें प्रमाण है।

साथ ही परमशिव के अमृतपद की अनित्यता स्वीकार करना भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी को उसकी नित्यता का भान होता है।

ध्यानादि उपाय केवल चित्तशुद्धि करते हैं, वे परमब्रह्म के अमृतपद की प्राप्ति नहीं करा सकते, यह पूर्वपक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि अमृतत्व की नित्य-स्थिति में भी उसको आच्छादित करनेवाली चित्त को संकुचित करनेवाली अज्ञानकला रहती

सर्वस्यापि नित्यत्वाभ्युपगमात्। तस्य नित्यत्वेऽपि तदावरकसङ्कोचकलाभिभवार्थत्वाद् ध्यानादेरुपायस्य अज्ञानादिसङ्कोचस्य सत्यत्वेऽपि तन्निवृत्तेरुपपन्नत्वात्। सत्यस्य ताम्रादेः सुवर्णत्वदशावच्छेदेन निवृत्तिसम्भवात्।

कार्यस्य निवृत्तिर्नाम कारणरूपे स्थितिः। तस्माद् दुस्तरभवनिस्तरण-दृढोपायध्यानादिना अमृतत्वाप्तेः सिद्धत्वात् केवलेन वाक्यजन्यज्ञानेन सर्वग्रन्थि-विच्छेदाभावात्,

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावदनुशासनम् ।।

इति श्रुतेर्हृदयग्रन्थिभेदाभावेऽमृतत्वाप्राप्तिः। अन्यथा एकत्र स्थितस्यान्य-त्रास्थितेन भेद्यत्वं स्यात्।

है, ध्यानादि उपाय उसका अभिभव करने के लिए ही हैं। जिस प्रकार ताम्बे को सोना बनाने की प्रक्रिया में सोना बन जाने पर उस अवस्था में वह ताम्बा नहीं अपितु सोना ही रहता है, उसी प्रकार अज्ञानादि-संकोच की स्थिति में भी ध्यानादि उपायों से उसकी निवृत्ति सम्भव है।

इस प्रकार ध्यानादि उपाय केवल चित्तशुद्धिप्रयोजक न होकर हृदयकमल में परमशिव का साक्षात्कार कराते हुए नित्य अमृतपद की प्राप्ति कराते हैं।

'निवृत्ति' शब्द का अर्थ है कारण के रूप में कार्य की अवस्थिति। दुस्तर भवसागर को पार करानेवाले ध्यान आदि दृढ उपाय के द्वारा अमृतपद की प्राप्ति सिद्ध है। 'शिवः केवलोऽहम्' आदि वाक्यजन्यज्ञान से सभी अज्ञान-ग्रन्थियों का भेदन नहीं होता।

जैसा कि श्रुतिवचन है— 'जब इहलोक में (जीव की) हृदय-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तब जरामरणादिबन्धनग्रस्त मर्त्य जीव 'अमृत', अमर, जरामरणादिस्थिति से मुक्त, **जीवन्मुक्त** हो जाता है यही अनुशासन है।'

इस श्रुति को प्रमाण मानकर 'तदभावे तदभावः' इस लक्षण के अनुसार यहाँ इस प्रकार व्यतिरेक-व्याप्ति होगी— 'जहाँ हृदय-ग्रन्थि-भेदन का अभाव है, वहाँ अमृतत्व की प्राप्ति का अभाव है।' अन्यथा यह व्यतिरेकव्याप्ति होने पर। जब एक जगह हृदय-ग्रन्थि-भेदन की स्थिति होगी तब दूसरी जगह अमृतत्व की अप्राप्ति नहीं होगी। अर्थात् हृदय की अज्ञानग्रन्थियों का भेदन होने पर मर्त्य जीव को अमरत्व, जरा-मरणादि बन्धनों से मुक्ति की प्राप्ति होगी।

न च हृदयाधिकरणकाखण्डब्रह्माकारवृत्तेरेव तद्भेदकत्वमिति वाच्यम्, तस्य जडत्वात् तदयोगात्। असङ्गस्य ब्रह्मणस्तदसम्भवाद् बाध्यबाधकभावासम्भवश्च मत्कृतब्रह्मसूत्रशाङ्कर्यां दर्शित इति तादृशाशुद्धिग्रन्थिप्रविलयाय ध्यानं विधीयते श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिषु।

तथाहि, अथर्वशिखायाम् — 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः', 'सर्वमन्यत् परित्यज्य समाप्ताथर्वणी श्रुतिः' इति। उपबृंहणवाक्यं च सूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डे श्रूयते —

अथ मोक्षार्थिभिः प्राज्ञैः शिव एव शिवङ्करः ।
ध्येयः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत् तु दैवतम् ।।

यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है कि 'केवल अन्तःकरण (चित्त) की अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति ही हृदयग्रन्थि का भेदन कर सकती है, उसके लिए ध्यानादि उपाय आवश्यक नहीं हैं।' क्योंकि —

(१) यतः ब्रह्म जड, अचेतन है, अतः चेतन अन्तःकरणवृत्ति से उसका सम्बन्ध नहीं होता।

(२) जब उसका अन्तःकरण की वृत्ति से सम्बन्ध नहीं होगा, तब दोनों में बाध्य-बाधकभाव सम्बन्ध का होना भी असम्भव है। अतः ब्रह्म से असम्बद्ध अखण्ड ब्रह्माकार चित्तवृत्ति हृदयग्रन्थि का भेदन नहीं कर सकती।

यह सब विषय मेरे (भाष्यकार) द्वारा प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' की शाङ्करी व्याख्या में प्रदर्शित हैं। अतएव श्रुति, स्मृति, पुराणेतिहास आदि में पूर्वोक्त अज्ञानमल-जन्य अशुद्धिपूर्ण ग्रन्थियों को नष्ट करने के लिए ध्यानादि का विधान किया गया है। एतदर्थ अनेक प्रमाणवचन यहाँ उपन्यस्त हैं।

'अथर्वशिखा' का वचन है—'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः' 'अथर्ववेद अन्त तक यही प्रतिपादन करता है कि अद्वितीय शिव ही 'शिवङ्कर' कल्याण करनेवाला है, केवल उसीका ध्यान करना चाहिए। अन्य देवताओं का परित्याग करना चाहिए।'

'सूतसंहिता' के यज्ञवैभवखण्ड में इसी अर्थ का उपबृंहण (विस्तार) वाक्य श्रुतिगोचर होता है—'मोक्ष की कामना करनेवाले सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि से

अस्मिन्नर्थे श्रुतिः साध्वी समाप्ता वेदवित्तमा ।।इति।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतिरप्युपासनामुपदिशति। तस्माज्जायत इति तज्जम्, तस्मिन् लीयत इति तल्लम्, तस्मिन्न नीतमिति तदनम्। तज्जं च तल्लं च तदनं चेति तज्जलानि। अवयवलोपश्छान्दसः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। अर्थात् चिदचित्प्रपञ्चात्मकं ब्रह्म सृष्टिस्थितिलयाधिष्ठानत्वेनोपासितव्यं शमान्वितेनेति विधीयते।

कठवल्लीष्वपि —

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

सम्पन्न जीवों को चाहिए कि वे केवल एकमात्र कल्याणकारी देवता शिव का ही ध्यानादि करें; उनसे भिन्न देवताओं का परित्याग करें। इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए अथर्ववेद पूर्ण हो जाता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति भी ध्यानादि उपासना का ही उपदेश देती है। यहाँ 'तज्जलानि' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'तस्माज्जायते इति तज्जम्' (उससे उत्पन्न होनेवाला 'तज्ज' कहलाता है।) 'तस्मिन् लीयते इति तल्लम्' (उसमें विलीन होनेवाला 'तल्ल' कहलाता है।) 'तस्मिन्न नीतम् इति तदनम्' (उसमें अवस्थित रहनेवाला 'तदन' कहलाता है।) 'तज्जं च तल्लं च तदनं चेति तज्जलानि' यह द्वन्द्वसमास है। (लौकिक संस्कृत में 'तज्ज-तल्ल-तदनानि' ऐसा समस्त पद होगा।) यहाँ अवयव-लोप वैदिक है। 'इति' शब्द हेत्वर्थक है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति का अर्थ होगा—'शान्त' अर्थात् शमदमादिसम्पन्न प्राणी का कर्तव्य है कि वह चिदचित्प्रपञ्चात्मक परब्रह्म को सृष्टि, स्थिति और प्रलय का अधिष्ठान समझकर उसकी उपासना करे।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह वचन कठवल्ली (तैत्तिरीयोपनिषद्) में प्राप्त है। (अर्थ) 'बलहीन परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, केवल मेधा अथवा बहुशास्त्रसम्पादन से भी वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो जीव ध्यानादि के द्वारा उसका वरण करता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है। जीव से अभिन्न वह परमात्मा अपने शरीर से छुटकारा पाता है। देह में अवस्थित होते हुए भी परमात्मा से अभेदस्थिति में जीव जीवन्मुक्त-स्थिति में पहुँच जाता है।'

इत्युक्तम्। योगयाज्ञवल्क्यस्मृतौ —

अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु गार्गि ! वरानने ।
ध्यानमेव हि सर्वेषां कारणं बन्धमोक्षयो: ।
ध्यानं शिवस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।।

कृष्णगीतायाम् —

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस: ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।इति।

कौर्मे —

ध्याननिष्ठस्य सततं नश्यते सर्वपातकम् ।
तस्मान्महेश्वरं ज्ञात्वा तद्ध्यानपरमो भवेत् ।।

इतीश्वरध्याननिष्ठं प्रतीश्वरोऽनुगृह्णातीति।

पातञ्जलदर्शनेऽप्युक्तम् — 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा' इति। इदमस्य भाष्यं वैयासिकम् — ''प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति। अभिध्यान-मात्रेण तदभिध्यानादपि'' इति।

योगयाज्ञवल्क्यस्मृति, भगवद्गीता और कूर्मपुराण के अनुसार जो जीव ईश्वर के ध्यान में मग्न रहता है, उस पर ईश्वर अनुग्रह करता है।

(अर्थ) 'वरानने! गार्गी! मैं ध्यान के सम्बन्ध में कहता हूँ, सुनो। ध्यान ही सभी जीवों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। ध्यान का अर्थ है अन्त:करण (मन) से शिव के स्वरूप का बोध।' — योगयाज्ञवल्क्यस्मृति।

'अपने मन को नियंत्रण में रखनेवाला योगी सदा-सर्वदा (ध्यान के द्वारा) स्वयं को परमात्मा से संयुक्त करते हुए मेरे में अवस्थित निर्वाण की परमशान्ति को प्राप्त करता है।' — भगवद्गीता।

'जो निरन्तर परमात्मा के ध्यान मे मग्न रहता है, उसके सभी पाप नष्ट होते हैं। अत: महेश्वर का ध्यान करते हुए उसमें अत्यंत तल्लीन रहना चाहिए।' — कूर्मपुराण।

'पातञ्जलयोगदर्शन' का भी यह सूत्र है—'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'। इसके व्यासभाष्य का अर्थ इस प्रकार है—'प्रणिधान' अर्थात् ध्यान ईश्वर की वह विशिष्ट भक्ति है, जिससे आकृष्ट परमेश्वर (ध्यानयोगी) जीव पर अनुग्रह करते हैं। केवल ध्यान से भी परमेश्वर द्रवित होता है।

कृष्णगीतायाम् —

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।।इति।

उक्तं च दीक्षितचरणैरपि —

'अन्तर्ग्रन्थिप्रविलयकृतश्चिन्त्यसे योगिवृन्दैः' इति।

भक्तानुग्रहार्थं स्वीकृतलीलामूर्तिसद्भावः शास्त्रप्रसिद्ध एव, तथापि मानवा मूर्खाः केचित् तस्य परब्रह्मणः शिवस्य मूर्तेरसत्यत्वं वदन्तीति यत्, तत्र गुरुकारुण्याभाव एव कारणमिति स्पष्टम्।

उक्तं च ब्रह्मानन्देन —

बहुशास्त्रमधीत्यापि गुरुकारुण्यवर्जिताः ।
शिवस्य मूर्तिवार्तामप्यहो ! जानन्ति नैव हि ।।इति।

अर्जुन (जीव) से परमेश्वर कहते हैं—'अर्जुन ! परमात्मा अपनी माया के द्वारा यन्त्र पर आरूढ सभी जीवों को नचाते हैं। वह सभी प्राणियों के हृदयस्थल में वास करते हैं। अतः भरतवंशी हे अर्जुन ! सर्वतोभावेन केवल उसीकी शरण में जाओ।' — भगवद्गीता।

दीक्षितचरण भी इस प्रकार ईश्वरस्तुति करते हैं — 'भगवन् ! योगीगण अन्तःकरण की ग्रन्थियों में तुम्हें छिपाकर, विलीन कर तुम्हारा सतत चिन्तन, ध्यान करते हैं।'

शास्त्रों में यह प्रसिद्ध है कि परमेश्वर भक्तों पर कृपा करने के लिए लीलामूर्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। तथापि कुछ अज्ञ मनुष्य उस परब्रह्म शिव की मूर्ति को असत्य कहते हैं और उसका कारण स्पष्ट है कि उन पर गुरु की करुणामयी दृष्टि नहीं पड़ती।

ब्रह्मानन्द ने यही कहा है — 'जो प्रचुर शास्त्राध्ययन करने पर भी गुरु के करुणा (दया) भाव से वंचित रहते हैं, वे परमशिव के लिङ्गमूर्ति की वार्ता से भी अनभिज्ञ रहते हैं।'

पराशरश्च —

ज्ञानावलम्बनभ्रान्त्या मनुष्या मन्दबुद्धयः ।
मूर्त्युपेक्षां प्रकुर्वन्ति ज्ञानं तेषां न जायते ।।

इत्युक्तवान्।

उक्तं चादित्यपुराणे इन्द्रं प्रति बृहस्पतिना —

अस्त्यनन्तगुणावासः परानन्दैकविग्रहः ।
ध्यातः कैवल्यदः पुंसां महादेवो न चापरः ।।
मर्मपाशनिबद्धानां महामोहात्मनां हरेः ।
स्मरणान्मोचकस्तेषामुमापतिरिति श्रुतिः ।। इति।

यदुक्तं परब्रह्मणः शिवस्य निष्कलस्य पूर्वानुभवाभावान्न तद् ध्यानं सम्भवतीति, तदपि बालिशभाषितम्। अननुभूतस्यापि पदार्थस्य स्मृतिरूपचिन्ताया दृश्यमानत्वात्।

काशीं जिगमिषुराप्तवाक्यं चोरोपद्रवरहितमार्गाद्यनुकूलाध्वगामी चिन्तयन् गङ्गास्नानानन्दमनुभूय च आनन्दसमरसो भवतीति श्रुत्वा निरुपद्रवमार्गमालम्ब्य सन्निहितकाशीदेशः स्मृत्वा चाप्तवाक्येन गङ्गास्नानानन्दमनुभूय चानन्दपरवशो

पराशरवचन के अनुसार 'जो मन्दबुद्धि मनुष्य केवल ज्ञान का अवलम्बन करने के भ्रम में सगुण साकार मूर्ति की उपेक्षा करते हैं, उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, उन्हें यथार्थज्ञान नहीं होता।'

आदित्यपुराण में बृहस्पति की इन्द्र के प्रति यह उक्ति है कि 'अनन्त गुणों के आवासस्थल परम आनन्दमूर्ति महादेव का ध्यान कैवल्य, मोक्ष को प्रदान करनेवाला होता है, अन्य देवों का नहीं। श्रुति का कथन है कि केवल पार्वती-पति शिव ही मर्मपाश के बन्धन में, महामोह में, गाढ अज्ञान-अन्धकार में पड़े हुए जीवों को ध्यानमात्र से मुक्ति प्रदान करते हैं।'

'निष्कल परब्रह्म शिव का पूर्वानुभव न होने से ध्यान असम्भव है', यह भी अज्ञतापूर्ण उक्ति है। जिस पदार्थ की अनुभूति नहीं होती, हम उसकी भी कल्पना करते हैं।' 'चिन्ता' या कल्पना का अर्थ ही है स्मृति, जो अन्तःकरण के पटल पर दृश्य, साकार होती है। इस प्रकार अननुभूत पदार्थ का भी ध्यान किया जा सकता है। ध्यान द्वारा परमशिव-साक्षात्कार और अमृतपद प्राप्त होता है। इस

यथा भवति, तथा परमाप्तवाक्यश्रुतिनिकरेणाऽध्वना गुरुमुखाम्भोधिनिर्गतेन गच्छन् निश्चितहितानुकूलव्यापारो ध्यायंश्च स्वस्वरूपं सच्चिदानन्दं परशिवं ध्यानध्रौव्ये चामृतीभवतीति केचित्।

वस्तुतस्तु 'सच्चिदानन्दाद्वितीयसर्वज्ञसर्वात्मकोऽहमि'त्याकारकानुभवरूपपराहन्तामयचिच्छक्तेः शिवावस्थायां सत्त्वात्, पूर्वानुभूतस्यैव स्वस्वरूपसच्चिदानन्दात्मकसर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य गुरुशास्त्राद्युद्बोधनवशात् स्वं रूपं शिवं स्मृत्वा स्मृतिदार्ढ्ये च स्वकीयं शिवरूपं साक्षात्करोति।

सम्बन्ध में कुछ लोगों का कथन है कि 'चोर-डाकू आदि के उपद्रवों से रहित अनुकूल मार्ग पर चलनेवाला गङ्गास्नान की कल्पनामात्र से उस आनन्द की अनुभूति करते हुए तत्सम आनन्दरस में निमग्न होता है', अपने हितैषी की यह बात सुनकर काशीयात्रा करने के लिए इच्छुक कोई प्राणी जिस प्रकार उपद्रवमुक्त मार्ग का अवलम्बन कर काशी के निकट पहुँचते हुए केवल स्मरण से गङ्गा-स्नान के आनन्द का अनुभव करते हुए आनन्दमग्न हो जाता है, उसी प्रकार गुरुदेव के मुखकमल से निर्गत परमहितकर वेदवाक्यों का श्रवण कर वेदसम्मत मार्ग पर चलते हुए हितकर, अनुकूल क्रियाकलाप करते हुए शिष्य स्वस्वरूप से अभिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप परमशिव के ध्यान में जब एकाग्रचित्त हो जाता है, तब अमर बन जाता है, जरा-मरणादि बन्धनों से छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है।'

यतः 'मैं सच्चिदानन्द अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वात्मक परमशिव हूँ' इस प्रकार की जीव की अनुभूति, जो पराहन्तामयी चिच्छक्ति ही है, परमशिव की ही अवस्था है, अतः जीव गुरूपदेश, शास्त्रवाक्य आदि के उद्बोधन से सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट स्वस्वरूप से अभिन्न पूर्वानुभूतिजन्य परमशिव का स्मरण, ध्यान करता हुआ उसको अन्तःकरणपटल पर दृढ करता है और फिर स्वकीय परमशिव के स्वरूप का साक्षात्कार करता है, यह वस्तुस्थिति है।

(शिवस्वरूप-साक्षात्कार के अनन्तर जीव किस प्रकार अमर बन जाता है, उसे समझाते हैं) 'जिस प्रकार कोई जीव जाग्रत्-अवस्था में अपनी धन-धान्य आदि शक्ति का अनुभव कर सुप्तावस्था में उसे भूल जाता है, फिर धीरे-धीरे जागते हुए उसका स्मरण करता है और पूर्ण प्रबुद्ध होकर उसका साक्षात्कार करता है, उसी प्रकार शिवावस्था में जीव पूर्ववर्णित स्वकीय चिच्छक्ति का अनुभव करता

यथा जाग्रति धनधान्यादिस्वसामर्थ्यमनुभूय सुप्तस्तद्विस्मृत्य प्रतिबोधावस्थाभिमुखः सन् मन्दं मन्दं तत् स्मृत्वा प्रतिबुद्धः साक्षात्करोति; तथैव शिवावस्थायां सच्चिदानन्दसर्वज्ञत्वादिस्वशक्तिमनुभूय स्वस्वातन्त्र्यतस्तदविज्ञातसुप्तिदशापन्नः प्रतिबुद्धश्च स्वात्मीयं सर्वं प्रत्यक्षीकृत्य अमृतीभवति।

अघटितघटनापटोरगस्त्यस्य समुद्रपानशक्तिवद् अचिन्त्यानन्तशक्तिकस्य परशिवस्य अनुग्रहवशादेव मुक्तो भवति। तथा च प्रतिबोधेन विषयीकृतं यदा ब्रह्म, तदैव मतं सम्यग् दृष्टं नान्येनोपायेनेत्यत्र हिशब्दः। तदायं प्रतिबुद्धोऽमृतत्वं विन्दते। तादृशप्रतिबोधरूपवीर्यं च शुद्धेनात्मना विन्दते। तादृशवीर्यरूपया विद्यया अमृतं निर्वाणपदं विन्दते।

द्विरुक्तिस्तु प्रतिबोधाभावे नामृतत्वप्राप्तिः, किन्तु प्रतिबोधेनैवेत्युपदेशार्थेति मन्त्रार्थसाङ्गत्यं द्रष्टव्यं विद्वद्भिरिति।।४।।

है। फिर अपनी ही स्वातन्त्र्यशक्ति से सुषुप्ति-अवस्था में पहुँचकर उसे भूल जाता है, फिर जाग्रदवस्था में पहुँचकर स्वस्वरूप से अभिन्न परमशिव का साक्षात्कार कर अमरत्व प्राप्त करता है, जरा-मरण-बन्धन से मुक्त 'जीवन्मुक्त' स्थिति में पहुँच जाता है।

जीव परमशिव के अनुग्रह से ही 'जीवन्मुक्त' होता है। अघटित घटना में निपुण परमशिव की शक्ति उसी प्रकार अचिन्त्य और अनन्त है, जिस प्रकार महर्षि अगस्त्य की समुद्रपानशक्ति।

'अमृतत्वं हि विन्दते' इस वचन में प्रयुक्त 'हि' शब्द यह सूचित करता है कि जब 'प्रतिबोध' के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाया जाता है, तभी उसका साक्षात्कार किया जाता है, अन्य उपाय द्वारा नहीं। 'प्रतिबोध'वान् जीव अमरत्व प्राप्त करता है। अज्ञान-मल का आवरण हटने पर शुद्ध-जीवात्मा तादृश 'प्रतिबोध'रूप वीर्य को प्राप्त करता है, यह वही विद्या है, जिसके द्वारा वह 'अमृत'पद = निर्वाणपद, मोक्षपद को प्राप्त करता है।

मन्त्र के पूर्वार्ध में 'अमृतत्वं हि विन्दते' और उत्तरार्ध में 'विन्दतेऽमृतम्' यह कहा गया है। यह द्विरुक्ति यह उपदेश देती है कि — " 'प्रतिबोध' के बिना अमृतपद की प्राप्ति नहीं होती, अपितु 'प्रतिबोध' द्वारा ही होती है।"

विद्वानों के द्वारा मन्त्र की अर्थसङ्गति पर इस प्रकार दृष्टि डालनी चाहिए।।४।।

किमस्ति बहुनोक्तेन मानुषं जन्म दुर्लभम् ।
तत्रापि दुर्लभं जन्म कुले शैवस्य कस्यचित् ।।
वीरशैवान्वये जन्म परमं दुर्लभं स्मृतम् ।
तत्र जाता नराः सर्वे वीरशैवा नरोत्तमाः ।।

इत्युक्तप्रकारेण सर्वश्रेष्ठतमं वीरशैवान्वयोऽतिदुर्लभं जन्म प्राप्तवानप्यदृष्टवशात् पराहन्तावगाहिवृत्तिरहितश्चेत् पुनः सांसारिकतापत्रयरूपानर्थं प्राप्नोतीत्याह —

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।५।।

इहेति। इह मनुष्योत्तमवीरशैवजन्मनि सति, अवेदीच्चेत्, 'विश्वात्मकविश्वाधिक-सर्वज्ञतादिमान् शिव एवाहमि'त्यवगतवान् यदि, अथ अनन्तरं सत्यं परशिवपदमस्ति प्राप्तं भवतीत्यर्थः।

किमस्ति बहुनोक्तेन? अधिक कहने से क्या लाभ है? प्रथम तो सभी योनियों में श्रेष्ठतम मनुष्ययोनि में जन्म होना दुर्लभ है। उसमें भी किसी शिवभक्त के कुल में जन्म लेना उससे भी कठिन है। शैवों में भी वीरशैवों के वंश में जन्म होना अत्यंत दुर्लभ कहा गया है। उस वंश में जन्म लेनेवाले सभी वीरशैव जीव सर्वश्रेष्ठ होते हैं।'

इस रीति से सभी में श्रेष्ठतम वीरशैव वंश में जन्म लेनेवाला भी यदि दुर्दैव से 'पराहन्ता' में अवगाहन करनेवाली चिच्छक्तिमयी चित्तवृत्ति से शून्य हो, तो वह फिर से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों से परिपूर्ण सांसारिक अनर्थ को प्राप्त करता है, इसी आशय का अग्रिम मंत्र है—

मनुष्ययोनि में उत्तम वीरशैव-वंश में जन्म लेकर जीव यदि यह ज्ञान प्राप्त कर ले कि 'मैं विश्वात्मक, विश्वाधिक सर्वज्ञता आदि माहेश्वर-धर्मों से सम्पन्न परमशिव ही हूँ, उससे अभिन्न हूँ'; तो उसे वास्तविक परमशिवपद प्राप्त होता है।

अनेक पूर्वजन्मों में अनुष्ठित श्रौत और स्मार्त सुकृत पुण्यकर्मों के परिणाम-स्वरूप वीरशैव-वंश में जन्म पाकर भी जीव यदि इस जन्म में परमशिवलिङ्ग को स्वयं से अभिन्न नहीं समझता, तो उसकी अपरिमित क्षति होती है।

न चेदिहावेदीद् अनेकजन्मानुष्ठितश्रौतस्मार्तकर्मपरिपाकाद् वीरशैवान्वये जन्म प्राप्यापि इह जन्मनि यदि परशिवलिङ्गं स्वाभिन्नत्वेन न विदितवान्, तदा महती अपरिमिता विनष्टिर्विनाशः।

'अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।'

इति स्मृतेः। जनिजरामरणकारणघोरापारासारसंसाररूपस्वशक्तिसङ्कोचमलावरण-लक्षणः स्वविनाशो भवतीत्यर्थः। तस्मात् पाशविच्छेदनसमर्थं परशिवलिङ्गमेव ध्यायेत्।

तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद् यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः।

इति स्मृतेः, 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेती'ति श्रुतेश्च।

'अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' इस स्मृतिवचन के अनुसार जो अज्ञ होता है और अनास्था रखता है, वह जीवात्मा संशयारूढ रहता है, दुविधा में रहता है। उसका विनाश होता है। यहाँ जीवात्मा के स्वयं विनाश का अर्थ है उसका जन्म, जरा, मरण आदि के कारण घोर दुस्तर संसारसागर में पड़ना, जो उसकी अपनी शक्ति, चिच्छक्ति के संकोच के फलस्वरूप अज्ञानमल के आवरण से अभिन्न ही है। इसलिए जीव को अपने से अभिन्न उस परमशिवलिङ्ग का ध्यान करना चाहिए, जो जन्म, जरा, मरणादि पाशबन्धन से छुटकारा दिलाने में समर्थ है।

इसमें 'तद् विद्वानक्षरम्' यह स्मृतिवचन और 'ज्ञात्वा शिवं' यह श्रुतिवचन भी प्रमाण हैं। 'यदि विद्वान् शुद्धविद्यासम्पन्न जीव स्वयं की शान्ति चाहता है, तो उसे 'अक्षर', नाशहीन, शाश्वत परमशिव का ध्यान करना चाहिए।' 'उस परम-शिव का साक्षात्कार कर वह परम शान्ति प्राप्त करता है।'

स्थावर-जङ्गम, अचर-चर समस्त प्राणियों में अन्वेषण कर 'अविनाभावसम्बन्ध'[१] से सकल, साकार, सगुण और निष्कल, निराकार, निर्गुण परमशिव का साक्षात्कार

---

१. जो जिसके बिना नहीं रहता, उसे **अविनाभावसम्बन्ध** कहते हैं। यतः जीवात्मा सगुण-निर्गुण परमात्मा को छोड़कर नहीं रहता, अतः वह उससे अभिन्न है। इसी 'अविनाभावसम्बन्ध' से वह परमात्म-साक्षात्कार करता है और शिवाद्वैतभावना से शरीरादि में अभिमान भावना छोड़कर 'जीवन्मुक्त' स्थिति प्राप्त करता है।

भूतेषु भूतेषु समस्तेषु चराचरेषु विचित्य अविनाभावसम्बन्धेन सकलनिष्कल-परशिवं ज्ञात्वा धीरास्तादृशशिवाद्वैतधिषणया रममाणा वीरशैवाः प्रेत्य व्यावृत्याऽस्माल्लोकात् पुत्रकलत्राद्युपलक्षितात् शरीरादौ त्यक्ताभिमानाः सन्तः, अमृता मुक्ताः भवन्ति।।५।।

।। इति श्रीमज्जङ्गमगुरूज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वरजगद्गुरुसिद्ध-लिङ्गशिवाचार्यसंस्थानास्थानपण्डितेन धर्मरत्नपदप्रतिष्ठितेन हुब्बल्लीपत्तनप्रदेशान्तर्गत-उमचिगिवृत्तिमठाधिष्ठितेन शङ्करशास्त्रिणा रचिता केनोपनिषदो द्वितीयखण्डस्य शाङ्करी व्याख्या समाप्ता ।।



करते हुए धैर्यशील वीरशैव उस प्रकार की शिवाद्वैतबुद्धि से रमण करते हुए पुत्र-कलत्र आदि से भासमान शरीरादि में अभिमान-भावना छोड़ते हुए इस लोक का परित्याग कर 'अमर', 'जीवन्मुक्त' हो जाते हैं।

इस प्रकार जङ्गम गुरु उज्जयिनी सद्धर्मसिंहासन के अधीश्वर जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य के संस्थान के आस्थानपण्डित 'धर्मरत्न' पद से प्रतिष्ठित हुब्बली पत्तन प्रदेश के अन्तर्गत उमचिगिपुर में वर्तमान मठ के स्वामी श्रीशङ्कर शास्त्री द्वारा विरचित केनोपनिषद्-द्वितीय खण्ड की व्याख्या पूर्ण हुई।

।। द्वितीय खण्ड सम्पूर्ण ।।



तृतीयः खण्डः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।।१।।

ब्रह्मेति। ब्रह्म ह सर्वतत्त्वानामुपरि स्थितम् 'ऊर्ध्वाय नमः, ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः' इतिश्रुतिप्रतिपाद्यम्, चिच्छक्तिपीठसहितं लिङ्गं निष्कलं देवेभ्यो देवानां प्रयोजनाय विजिग्ये जितवदसुरान्। देवासुरसंग्रामे असुरान् जित्वा अभयान् सुरानकरोत्।

तस्य ब्रह्मणो ह किल विजये देवा इन्द्रादयः, अमहीयन्त पूजिता अभवन्। अविज्ञाततद्ब्रह्मकर्तृकाः सन्तोऽस्मत्कर्तृकत्वमेवास्येत्यभिमतवन्तः।

तदभिमानमेवाह — ते देवा ऐक्षन्त ज्ञातवन्तः। किमित्ययमसुराणां विजयोऽस्माकमेवास्माकमेवायं महिमेति।।१।।

> पुराकल्पे महाकाले प्रलये लोकविश्रुते ।
> अयुध्येतामात्ममानौ (तौ) ब्रह्मविष्णू परस्परम् ।।
> तयोर्मानं निराकर्तुं तन्मध्ये परमेश्वरः ।
> निष्कलः स्तम्भरूपेण स्वरूपं प्रत्यदर्शयत् ।।

इत्युक्तरीत्या इन्द्रादीनामभिमाननिराकरणाय तदेव निष्कलपरशिवलिङ्गमेव जलकरकन्यायेन दृश्यरूपेणाविर्भूतमित्याह —

यह ब्रह्म सभी छत्तीस तत्त्वों के ऊर्ध्व में अवस्थित है। 'ऊर्ध्वाय नमः' इत्यादि श्रुतियों ने इसका प्रतिपादन किया है और यह पराहन्तामय चिच्छक्तिपीठ के साथ विद्यमान है। इसी परम शिवलिङ्ग ने देवताओं का कार्य निष्पन्न करने के लिए देव (सुर) और असुरों के संग्राम में असुरों पर विजय प्राप्त की और उन्हें निर्भय बनाया।

उस परब्रह्मस्वरूप परम-शिव के द्वारा असुरों पर विजय प्राप्त करने पर इन्द्र आदि देवता अपने को पूजा के योग्य समझने लगे। यतः वे परब्रह्म के उस कर्तृत्वशक्ति से परिचित नहीं थे, अतः वे इस विजय को 'यह हमारी ही कर्तृत्वशक्ति से सम्भव हुआ' ऐसा समझने लगे।

वे यह अभिमान करने लगे — 'यह हमारी ही जीत है, हमारी ही महिमा है।'।।१।।

प्राचीन कल्प में चतुर्दशभुवनों में विख्यात महाकालस्वरूप प्रलय के उपस्थित होने पर आत्माभिमानी ब्रह्मदेव और भगवान् विष्णु परस्पर युद्ध करने लगे।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ।।२।।

तद्धैषामिति। तद् ब्रह्म किलैषां देवानामज्ञातसर्वान्तर्यामीश्वरसर्वकर्तृत्वानां ज्ञातासुरकर्मकस्वकर्तृकविजयानां विजज्ञौ तदभिमानं विदितवत्तस्य सर्वज्ञतादिशक्तिमत्त्वात्। तस्मात् तेषामहङ्कारनिरसनाय तेभ्यस्तेषामर्थायानुग्रहाय स्वाभाविकस्य स्वातन्त्र्यादिमहिम्ना दृश्येन स्तम्भरूपेणेन्द्रियगोचरतया प्रादुर्बभूव। घृतकाठिन्यन्यायेन स्वशक्तिविजृम्भिताखण्डगोलकाकारं किञ्चित् स्वरूपमादधे इत्यर्थः।

उक्तं च भगवता व्यासेनाऽपि —

घृतकाठिन्यवन्मूर्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
शिवाद् भेदेन नैवास्ति शिव एव हि सर्वदा ।। इति।

उन दोनों का अहङ्कार मर्दन करने के लिए उनके बीच में निष्कल, निर्गुण, निराकार परमेश्वर स्तम्भ के रूप में प्रकट होकर अपने सकल स्वरूप का प्रदर्शन करने लगे।' इस प्रकार इन्द्र आदि देवताओं का अभिमान मर्दन करने के लिए वही निष्कल परशिवलिङ्ग, 'जलकरकन्याय'[1] से दृश्य रूप में प्रकट हुआ यही अग्रिम मन्त्र का आशय है।

इन्द्रादि देवता और ब्रह्मदेव तथा भगवान् विष्णु, जो सभी के अन्तःकरण (हृदयस्थल) में विद्यमान परमेश्वर की कर्तृत्वशक्ति को नहीं पहचानते थे, परब्रह्म ने सर्वज्ञता आदि समस्त शक्तिसम्पन्न होने के कारण उनके इस अभिमान को समझ लिया कि 'हमीं कर्तृत्वशक्ति से सम्पन्न हैं।' अतः उनका अहङ्कार दूर करने के लिए और उन पर अनुग्रह करने के लिए अपनी स्वाभाविक स्वातन्त्र्यादि महिमाशक्ति के प्रयोग से वे सभी के सम्मुख प्रकट हुए। अर्थात् इन्द्रियों से अगोचर परमशिव ने स्तम्भ के रूप में इन्द्रियगोचर स्वकीय स्वरूप को प्रकट किया। अर्थात् 'घृतकाठिन्यन्याय' से अपनी शक्ति से प्रकट किये हुए अखण्ड गोलक के आकार के किसी स्वरूप को धारण किया।

भगवान् वेदव्यास का यह वचन भी इसमें प्रमाण है — 'सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, 'घृतकाठिन्यन्याय' से प्रकट, सकल, सगुण, साकार परमशिव की लिङ्गमूर्ति शिव से भेद नहीं रखती, अपितु सर्वदा शिवस्वरूप ही है।

---

१. 'जलकरकन्याय' का अर्थ है जल जिस प्रकार करक (ओला) बनकर दृश्य होता है, उसी प्रकार दृश्य होना। इसी न्याय से निष्कल परम शिवलिङ्ग सकल रूप में प्रकट हुआ।

उक्तं च दीक्षितचरणैरपि —

'आनन्दाब्धेः कमपि च घनीभावमास्थाय रूपम्' इति।

तस्मात् परशिवस्याऽपरिच्छिन्नस्य निर्विकल्पनिराकारनिरस्ताशेषविप्लव-सर्वज्ञसर्वव्यापकसर्वशक्तिनिरङ्कुशस्य स्वप्रकाशस्येन्द्राद्यनुग्रहार्थं स्वलीलानिर्मित-दृश्यलिङ्गमूर्तिरूपेणाऽऽविर्भूतत्वाद् विस्मयापन्ना देवास्तत्स्वरूपं न व्यजानन्त न विदितवन्तः — किमिदं पुरोवर्ति यक्षं पूजार्हं पवित्रतमं मङ्गलमूर्त्यात्मकमिति।

न च तस्य दृश्यत्वेन वैतथ्यं स्वप्नवत्, ब्रह्मणोऽपि वैतथ्यापत्तेः, यक्षस्य दृश्यस्य ब्रह्मत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। किञ्च — दृष्टान्तासिद्धिः, जाग्रत्प्रपञ्चस्य वैलक्षण्यात्। किन्नाम मिथ्यात्वं ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वं वा त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा? नाद्यः, बाध्यबाधकभावस्यैवासम्भवात्। 'सर्वो वै रुद्रः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादौ प्रपञ्चस्य शिवात्मकत्वोपदेशात्।

दीक्षितचरणों ने भी इसीका समर्थन किया है। 'सच्चिदानन्दलक्षण परमानन्दसागर के किसी अनिर्वचनीय घनीभूत स्वरूप को धारण करते हैं।'

वह परशिव अपरिच्छिन्न, परिच्छेद (सीमा) से रहित है, निर्विकल्पक, निराकार और सम्पूर्ण उपद्रवों का निरसन करनेवाला है। सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिसम्पन्न, निरङ्कुश और स्वयंप्रकाश है। यतः इन्द्र आदि देवताओं पर अनुग्रह करने के लिए वह स्वकीय लीला के द्वारा निर्मित दृश्य, इन्द्रियगोचर लिङ्गमूर्ति के रूप में प्रकट हुआ, अतः आश्चर्यचकित देवता उसके स्वरूप को नहीं समझ सके कि 'यह सामने अवस्थित यक्ष, पूजा के योग्य अत्यन्त पवित्र मङ्गलमूर्तिस्वरूप क्या है?'

जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई वस्तु असत्य होती है, उसी प्रकार परमशिव का वह दृश्यस्वरूप असत्य नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर ब्रह्मस्वरूप परमशिव की सत्ता भी असत्य कहलायेगी। आगे चलकर दृश्य यक्ष के ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया जानेवाला है। स्वप्न का दृष्टान्त भी ठीक नहीं। क्योंकि जाग्रदवस्था का प्रपञ्च विलक्षण, नानारूप है, वह मिथ्या नहीं अपितु सत्य है।

'मिथ्यात्व' की परिभाषा क्या है? (१) ब्रह्मज्ञान से प्रापञ्चिक ज्ञान में बाधा पहुँचना? अथवा (२) त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी होना? (१) मिथ्यात्व की प्रथम परिभाषा ठीक नहीं है। यतः दोनों में बाध्य-बाधकभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुतियाँ कहती हैं— 'सर्वो वै रुद्रः' — सकल दृश्यमान स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च

'शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्'

इत्युक्तशिवाद्वैतज्ञानेन घटपटादौ घटत्वादिबुद्धिर्निवर्तते, न घटादिः, तस्य शिवरूपत्वात्। तस्मान्न ब्रह्मज्ञानेन प्रपञ्चबाधः, जनकादिब्रह्मविदामपि पूर्ववद् व्यवहारस्य दृश्यमानत्वात्।

किञ्च, जीवन्मुक्तानां शरीरधारणादिव्यवहारानुपपत्तिः स्यात्। उक्तं च —

अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नाऽन्यथा ।
ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु लीयते न स्वरूपतः ।।

न द्वितीयः, 'अमूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायन्ते', 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इत्यादौ जगतोऽनादित्वप्रतिपादनात्।

शिवस्वरूप है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' — सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर यह चराचर जगत् ब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार श्रुतिवचनों में प्रपञ्च (संसार) का शिवस्वरूप में उपदेश है।

'शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्'

ब्रह्मज्ञानी को शिव के साथ यह अद्वैतबुद्धि होती है कि 'शिव ही दाता है, शिव ही भोगकर्ता है और शिव ही यह दृश्यमान चराचर जगत् है।' इस प्रकार के अद्वैतबोध से ब्रह्मज्ञानी की घट-पट आदि में घटत्व, पटत्व आदि बुद्धि नष्ट होती है, घट और पट आदि उसी रूप में रहते हैं, क्योंकि वे शिवस्वरूप हैं। अतः ब्रह्मज्ञानियों को उत्पन्न अद्वैतस्वरूप ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्च की सत्यता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। जनक आदि ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान के बाद भी पहले जैसा व्यवहार करते हैं, यह हम देखते हैं। अन्यथा 'जीवन्मुक्त' ब्रह्मज्ञानियों द्वारा शरीर को धारण करना आदि व्यवहार की सङ्गति नहीं लगेगी।

कहा भी है कि 'ब्रह्मज्ञानियों की परब्रह्मस्वरूप परमेश्वर और प्रपञ्च में अखण्ड, अद्वैत की बुद्धि होने पर उन्हें समस्त चराचर प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है, उससे भिन्न नहीं। ब्रह्मज्ञान से उनकी विकल्प-बुद्धि नष्ट होती है। स्वस्वरूप से ब्रह्म और प्रपञ्च दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता नष्ट नहीं होती।'

(२) 'मिथ्यात्व' की द्वितीय परिभाषा भी ठीक नहीं है। आपकी इस परिभाषा के अनुसार 'मिथ्यात्व' का अर्थ है त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी होना, जब कि श्रुतियाँ जगत् का अनादि-प्रतिपादन करती हैं। — 'विश्व के समस्त प्राणी अमूल,

किञ्च, त्रैकालिकाभावः प्रागभावो वा, ध्वंसो वा, अत्यन्ताभावो वा, अन्योन्याभावो वा? नाद्यः, 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' इत्यादिश्रुतिषु बाल्ययौवनादिवत् प्रलये प्रपञ्चस्य सूक्ष्मत्वं तत्सूक्ष्मप्रपञ्चस्यैव सृष्टिकाले स्थूलत्वव्यपदेशात्।

न द्वितीयः, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिषु नाशः कारणलयः इति न्यायेन प्रलयेऽपि प्रपञ्चस्य सदात्मकत्वेन स्थित्युपदेशात्।

न तृतीयः, अर्थसिद्धिक्रियासिद्ध्यात्मकत्वेन दृष्टत्वात्।

बिना मूल के, बिना कारण और बिना आधार के जन्म लेते हैं।' 'कभी भी, किसी भी काल में चराचर विश्व इस प्रकार नहीं था, न रहेगा और न है।' इस प्रकार श्रुतियाँ जगत् को अनादिसिद्ध करती हैं।

'मिथ्यात्व' की इस परिभाषा में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी होने का अर्थ है त्रैकालिक अभाव। अभाव चार प्रकार का होता है—(क) प्रागभाव, (ख) ध्वंस, (ग) अत्यन्ताभाव और (घ) अन्योन्याभाव। इनमें से यह कौनसा अभाव है?

(क) यह प्रथम प्रागभाव नहीं हो सकता। 'प्रागभाव' का अर्थ है पहले से जिसका अभाव रहता है, पहले से जिसकी सत्ता नहीं रहती वह अभाव। 'असद् वा इदमग्र आसीत्', 'ततौ वै सदजायत' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार प्रलय की स्थिति में प्रपञ्च उसी प्रकार सूक्ष्म, अव्यक्त रहता है, जिस प्रकार बाल्य, यौवन और जरा (बुढ़ापा)। उस सूक्ष्म प्रपञ्च को ही सृष्टि के समय स्थूल कहा जाता है। इस श्रुति का अर्थ है—'पहले, कारणावस्था में भी यह प्रपञ्च सूक्ष्म, अव्यक्त होने के कारण असत्, अस्तित्वहीन-सा था। पश्चात् सृष्टि के समय वह स्थूल होने के कारण सत्, अस्तित्वसम्पन्न हो गया।

(ख) यह दूसरा (ध्वंसरूप) अभाव भी नहीं है। क्योंकि 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों में 'नाशः कारणलयः' इस न्याय के अनुसार प्रलयावस्था में भी प्रपञ्च की सद्रूप से स्थिति वर्णित है। नाश का अर्थ है वस्तु का कारण में विलय होना।

'सदेव सौम्य' इत्यादि श्रुति का अर्थ इस प्रकार है — 'सौम्य ! पहले, प्रलयकाल में भी यह जगत् सद्रूप में था।'

(ग) यह तीसरा 'अत्यन्ताभाव' नामक अभाव भी नहीं है। क्योंकि अर्थसिद्धि और क्रियासिद्धि के रूप में यह दृश्य है।

न चतुर्थः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सर्वो वै रुद्रः', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिश्रुतिसूत्रैरभेदस्योक्तत्वात्। उक्तं च सिद्धान्तशिखामणौ रेणुकभगवत्पादैः —

फेनोर्मिबुद्बुदाकारं यथा सिन्धोर्न भिद्यते ।।
यथा तन्तुभिरुत्पन्नः पटस्तन्तुमयः स्मृतः ।
तथा शिवात् समुत्पन्नं शिव एव चराचरम् ।। इति।

तस्मात् —

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तो वितथा इव लक्षिताः ।।

(घ) यह चौथा 'अन्योन्याभाव' नामक अभाव भी नहीं है। क्योंकि भेद की स्थिति में यह अभाव रहता है, जब कि अनेक श्रुतिवचनों और सूत्रादि में प्रपञ्च और परब्रह्म का अभेद प्रतिपादन है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' — यह निखिल चराचर विश्व ब्रह्मस्वरूप है। 'सर्वो वै रुद्रः' — यह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक संसार शिवस्वरूप है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्' वाचा, आरम्भण, विकार आदि विभिन्न नाम हैं। केवल मृत्तिका ही वास्तविकता है। 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' आरम्भण आदि शब्दों से उसका पार्थक्य प्रतीत होता है।

'सिद्धान्तशिखामणि' में रेणुकंभगवत्पादाचार्य कहते हैं—'जिस प्रकार समुद्र के फेन, तरङ्ग, बुलबुले आदि आकृतियाँ समुद्र से भिन्न नहीं होते, जिस प्रकार सूतों का बना कपड़ा सूत्रमय, सूत्र से अभिन्न रहता है, उसी प्रकार परमशिव से उत्पन्न, प्रकट सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च शिवस्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं।

अतः जो आदि में भूतकाल, में और अन्त में, भविष्यकाल में नहीं होता और वर्तमानकाल में नहीं रहता, उसकी सत्ता असत्य, भ्रमात्मक है। वे अवास्तविक, असत्य से परिलक्षित होते हैं।' यह दूसरों का कथन युक्तियुक्त नहीं है। यतः बुद्धि में उपस्थित सभी पदार्थ पारमार्थिक, वास्तविक हैं, भ्रम के कारणीभूत वे पदार्थ यथार्थ, सत्य हैं, अतः सम्पूर्ण ज्ञान सत्य है। स्वप्न आदि के दृष्टान्त के द्वारा जाग्रदवस्था के प्रपञ्च को असत्य, मिथ्या नहीं कहा जा सकता, अन्यथा ब्रह्म की आनन्दानुभूति नहीं होगी।

इति परैरुक्तमयुक्तमेव, बुद्ध्युपस्थितसर्वपदार्थज्ञानस्य पारमार्थिकत्वात् भ्रान्तिकारणीभूततत्तत्पदार्थानां सत्यत्वात् सर्वं ज्ञानं सत्यमेव। तथा च न स्वप्नादिदृष्टान्तेन जाग्रत्प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं स्यात्। अन्यथा ब्रह्मानुभूतिर्न स्यात्।

किञ्च, जगतो मिथ्यात्वे वेदान्तादिशास्त्रस्यापि मिथ्यात्वेन तत्प्रतिपाद्यब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वं दुर्वारम्। तथा च ब्रह्म मिथ्या भवितुमर्हति, असत्यहेतुजन्यज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवत्।

न च ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात् पक्षे दृश्यत्वरूपहेतोरभावात् तव हेतुरसिद्ध इति वाच्यम्, निर्धर्मकं ब्रह्मेति ज्ञानस्यैव विषयत्वाद् दृश्यत्वं ब्रह्मणि पक्षे आयातम्, अन्यथा कथमुच्यते ब्रह्म निर्धर्मकमिति। तस्मात् त्वदुक्तं जगन्मिथ्यात्वसाधकं दृश्यत्वं दुष्टम्।

किञ्च, जगत्सत्यं सृष्टिप्राक्काले सङ्कुचितत्वात्, सङ्कुचितकूर्माङ्गवत्, यन्न दृश्यते तन्नास्तीति वक्तुमशक्यत्वात्। सृष्टिकाले प्रत्यक्षसिद्धत्वात् सत्यमेव। अन्तेऽपि सङ्कुचितरूपेण स्थितत्वात् सत्यम्।

जगत् के मिथ्या होने पर उसके प्रतिपादक वेदान्तादि दर्शनशास्त्र भी असत्य होंगे और उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म को मिथ्या सिद्ध करना कठिन नहीं होगा। इस प्रकार यह अनुमिति होगी — 'ब्रह्म मिथ्या हो सकता है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि वह असत्य हेतु से उत्पन्न ज्ञान का विषय है (हेतु)। जिस प्रकार प्रपञ्च असत्य हेतु से उत्पन्न ज्ञान का विषय है (उदाहरण)।'

यत: ब्रह्म निर्धर्मक, विशेषणरहित है, क्योंकि पक्षकोटि में दृश्यत्वरूप हेतु का अभाव है, अत: आपका ब्रह्म की असत्यता के प्रतिपादन में हेतु असिद्ध है, ऐसा भी आप नहीं कह सकते। क्योंकि 'ब्रह्म निर्धर्मकम्' — ब्रह्म निर्धर्मक, वैशिष्ट्यरहित है, इस प्रकार की अनुभूति ज्ञान का विषय होने के कारण पक्षकोटि में दृश्यत्वहेतु ब्रह्म में आ ही जाता है। अन्यथा आप यह कैसे कहते हैं कि 'ब्रह्म निर्धर्मक है?' अत: आपके द्वारा प्रतिपादित जगत् को मिथ्या सिद्ध करनेवाला दृश्यत्वरूप हेतु दोषपूर्ण असद्धेतु है, सद्धेतु नहीं।

जगत् की सत्यता के साधक अन्य अनुमान इस प्रकार हैं—जगत् मिथ्या नहीं, अपितु सत्य है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि सृष्टि के पूर्वकाल में वह सङ्कोचावस्था में रहता है (हेतु)। जिस प्रकार कछुवे के अङ्ग सङ्कुचित रहते हैं (उदाहरण)। हम

ननु सर्वस्यापि मिथ्याभूतमायाकल्पितत्वात् सर्वं मिथ्येतिं चेन्न,

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्।'

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।'

इत्यादिश्रुतिषु मायाया ब्रह्मशक्तित्वेनावगमात्। उक्तं च कामिकागमे —

शिव एव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।। इति।

मिथ्यामायाकल्पितं जगदिति मते ईश्वरादिकं रज्जुसर्पवत् कल्पितमिति भक्तिशास्त्राणां विधिनिषेधबोधकवेदशास्त्रागमपुराणेतिहासानां दत्ताञ्जलिप्रसङ्गात्। न चात्रापि भक्तिश्रद्धादीनां दृश्यमानत्वान्न वैयर्थ्यमिति वाच्यम्, असति कल्पिते ईश्वरे

यह नहीं कह सकते कि जो दृष्टिगोचर नहीं होता, उसका अस्तित्व ही नहीं है। सृष्टिकाल में उसका अस्तित्व प्रत्यक्षसिद्ध है और अन्त प्रलयावस्था में भी कछुवे के अङ्ग के समान सङ्कुचित स्थिति में रहने के कारण उसकी सत्ता वास्तविक ही है, मिथ्या नहीं।

यह कहना भी ठीक नहीं कि यत: सम्पूर्ण चराचर विश्व उस माया से कल्पित है, जो मिथ्या है; अत: सभी प्रपञ्च मिथ्या हैं सत्य नहीं।'

क्योंकि माया ब्रह्म की शक्ति है, वह मिथ्या नहीं, अपितु सत्य है। जैसा कि अनेक श्रुतियों में प्रतिपादित है —'माया को प्रकृति ब्रह्मशक्ति और महेश्वर को मायावी, ब्रह्मशक्तिसम्पन्न समझना चाहिए।

उस महेश्वर की परमशक्ति विविध रूपों में श्रुति-प्रतिपादित है—स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियाशक्ति क़े रूप में वह वर्णित है। 'कामिकागम' का भी कथन है— 'स्वयंप्रकाश महेश्वर परमशिव ही अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा अन्तर में अवस्थित सम्पूर्ण पदार्थसमूह को बिना उपादानसामग्री के उसी प्रकार प्रकाशित करता है, जिस प्रकार योगी।'

जो यह मानते हैं कि सम्पूर्ण चराचर विश्व मिथ्या माया के द्वारा कल्पित है, उनके मत में यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान में रज्जु में सर्प कल्पित है, उसी प्रकार ईश्वर आदि भी कल्पित है। ऐसी स्थिति में विधि-निषेध के प्रतिपादक वेद, शास्त्र, आगम, पुराणेतिहास आदि भक्तिशास्त्रों को भी

कृत्रिमशालग्राम इव कस्य वा भक्तिश्रद्धादयो भवेयुः। रज्ज्वारोपितसर्पवत् कल्पितेश्वरः फलप्रदाता वा कथं भवेत्! तस्मादिन्द्राद्यनुग्रहायाविर्भूतस्य यक्षस्य दृश्यत्वेऽपि न मिथ्यात्वम्, सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य सत्यत्वात्, तस्य शिवरूपत्वात्। अत एवोक्तम् —

वाचारम्भणवाक्यानि तदनन्यत्वबोधनात् ।
न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतः शिवरूपतः ।। इति।

उक्तं चान्यत्र —

तस्माद् भावाः स्थिराः सर्वे न च्यवन्ते स्वरूपतः' इति।

तस्मान्निष्कलं ब्रह्मैवाद्भुताकारेण यक्षरूपेण परिणतमिति बोध्यम् ।।२।।

तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इसके उत्तरस्वरूप वेदान्तियों का यह कथन भी उचित नहीं होगा कि यतः भक्ति, श्रद्धा आदि भावों की अनुभूति होती है, अतः वे व्यर्थ नहीं हैं। कृत्रिम पत्थर के शालिग्राम में जिस प्रकार भक्ति, श्रद्धा आदि भावों का अभाव होता है, उसी प्रकार अस्तित्वहीन, कल्पित ईश्वर में भक्ति-श्रद्धा कैसे रह सकती है?

जिस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान से रज्जु में कल्पित सर्प फलप्रदाता नहीं होता, उसी प्रकार अस्तित्वहीन, कल्पित ईश्वर फलप्रद कैसे हो सकता है? अतएव इन्द्र आदि देवताओं पर अनुग्रह करने के लिए आविर्भूत 'यक्ष' के इन्द्रिगोचर होने पर वह असत्य नहीं है, क्योंकि वह शिवस्वरूप है।

इसीलिए कहा है — 'यतः स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त संसार शिवस्वरूप है, अतः 'वाचारम्भणं विकारः' आदि श्रुतिवचन उससे, शिव से भिन्नता का बोध करने के कारण जगत् की असत्यता सूचित करने के लिए कल्पित नहीं है।'

अन्यत्र भी यह कहा है कि 'इसी कारण सभी भावरूप पदार्थ स्थिर हैं, जो अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते।'

अतः यह समझना चाहिए कि निष्कल, निराकार, निर्गुण ब्रह्म की ही अदभुत, विस्मयकारक आकार से 'यक्ष' के रूप में परिणति (रूपान्तर) हो गयी है।।२।।

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि ।
किमिदं यक्षमिति तथेति ।।३।।

ते इति। ते देवाः, जातवेद एतद् यक्षं विजानीहि इत्युक्तवन्तः। तथास्त्विति ।।३।।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वाहमस्मि ।
इत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।।४।।

तदिति। तद्यक्षं अभ्यद्रवत् समीपं गतः। तमग्निमभ्यवदत् कोऽसीति। पृष्टोऽग्निरग्निर्वाहमस्मि, जातवेदा वा अहमस्मीति स्वस्य प्रसिद्धनामद्वय-मुक्तवानित्यर्थः।।४।।

तस्मिन् त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयम्।
यदिदं पृथिव्यामिति ।।५।।

तस्मिन्निति। तस्मिन् तन्नामनि त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यमिति पृष्टोऽग्निः, यदिदं पृथिव्यां वर्तते तदिदं सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यामिति सर्वदहनसामर्थ्यमस्तीत्य-ब्रवीदित्यर्थः।।५।।

देवताओं ने अग्नि से कहा – 'अग्ने! यह सम्मुख 'यक्ष' के रूप में वर्तमान पूजा के योग्य मङ्गलमूर्ति को सम्यक् रूप से समझो कि यह क्या है?'

अग्नि ने देवताओं से कहा – 'तथास्तु'।।३।।

अग्नि यक्ष के पास पहुँचे। यक्ष ने अग्नि से पूछा—'तुम कौन हो?'

अग्नि ने उत्तर दिया –'मैं 'अग्नि' अथवा 'जातवेदा' हूँ।' इस प्रकार उसने अपने प्रसिद्ध दो नाम यक्ष को बतलाये।।४।।

यक्ष ने अग्नि से पूछा—'तुम अपने को 'अग्नि' अथवा 'जातवेदा' सम्बोधित करते हो। इस युगलनामधारी तुम्हारे में क्या सामर्थ्य है?'

अग्नि ने उत्तर दिया—'मैं वह सब कुछ भस्मसात् करता हूँ, जो इस अखण्ड भूमण्डल पर विद्यमान है।'।।५।।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन
तन्न शशाक दग्धुम्। स तत एव निववृते ।
नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।६।।

तस्मै इति। तस्मै तादृशाभिमानवते तृणमेतद्दहेति तृणं तस्य पुरतो निदधौ। तत्तृणं सर्वजवेन उपप्रेयाय तत्समीपं गतवानित्यर्थः। तत्तृणं दग्धुं न शशाक। सोऽग्निः, तत एव तस्मात् स्थानाद् निववृते देवान् प्रति निवृत्तः। नाहम्, यदेतद् विज्ञातुमशक्यम्। इत्युक्तवानिति शेषः। एवमग्रेऽपि।।६।।

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि ।
किमेतद्यक्षमिति । तथेति।।७।।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
वायुर्वाहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वाहमस्मीति ।।८।।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमत्यपीदं
सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ।।९।।

यक्ष ने उसे एक तिनका दिया और कहा — 'इसे जलाओ वह तिनका अत्यन्त वेगपूर्वक उस अग्नि के पास गया। परन्तु अग्नि उसे जला न सका।

पश्चात् अग्नि सारा अभिमान छोड़कर उस जगह से लौट गया, जहाँ देवता थे और कहने लगा — 'मैं यह नहीं समझ पाया कि यह यक्ष कौन है, जिसमें यह सामर्थ्य है।' इसी प्रकार का अर्थ आगे भी समझना चाहिए।।६।।

फिर देवताओं ने वायु से पूछा—'इसे समझो कि यह यक्ष क्या है? इसका स्वरूप क्या है?'।।७।।

वायु यक्ष के सम्मुख पहुँचा। यक्ष ने वायु से कहा—'तुम कौन हो?' 'मैं वायु हूँ।' वायु ने यक्ष को उत्तर दिया। 'अथवा मातरिश्वा हूँ।' इस प्रकार दो नामों से वायु ने अपना परिचय दिया।।८।।

'वायु अथवा मातरिश्वा नामधारी, तुम्हारे में क्या सामर्थ्य है?' यक्ष ने वायु से पूछा।

वायु ने उत्तर दिया—'मैं उन सबका हरण करता हूँ, जो समस्त भूतल पर है।' इस प्रकार सम्पूर्ण आहरण-सामर्थ्य का अभिमान वायु ने यक्ष के सम्मुख प्रकट किया।।९।।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति।
तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुम्।
तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।१०।।
अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति।
तथेति। तदभ्यद्रवत् तस्मात् तिरोदधे ।।११।।

अथेन्द्रमिति। तदभ्यद्रवदित्यन्तं पूर्ववत्। तस्मादिन्द्राद्यक्षसमीपं गतात् तिरोदधे तिरोहितं तद्यक्षम्। इन्द्रस्य स्वाभिमानमत्यन्तं निराकर्तुं तथा तं ध्यानादौ प्रवर्तयितुं तेन साकं नैवाऽभाषत, तिरोहितमेवाभवदित्यर्थः।।११।।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम ।
बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ।।१२।।

स इति। स इन्द्रः, तस्मिन्नेवाकाशप्रदेशे परशिवब्रह्म स्वस्य शिवां तनूमदर्शयत्, गोपितस्वरूपं चाभवत्। तस्मिन्नेव स्त्रियं बहु शोभमानां शोभनतमां

यक्ष ने उस अहंकारी वायु के सम्मुख तिनका रखा और कहा — 'इसका अपहरण करो।' वह तिनका सम्पूर्ण वेग से वायु के सम्मुख पहुँचा। वायु उसे उड़ा नहीं सका। वायु वहाँ से देवताओं के पास लौट आया और उसने अपना अभिमान छोड़कर कहा — 'मैं इसे उड़ा नहीं सका। मैं यह नहीं समझ पाया कि यह यक्ष कौन है, जिसमें यह सामर्थ्य है।'।।१०।।

फिर देवता इन्द्र से बोले— 'मघवन् ! इसको पहचानो कि यह यक्ष कौन है?' इन्द्र ने देवताओं से कहा — 'तथास्तु।' फिर इन्द्र यक्ष के पास पहुँचा। इतना अर्थ पूर्वमन्त्रों की तरह करना चाहिए। सम्मुख पहुँचनेवाले इन्द्र के पास से यक्ष अदृश्य हो गया। इन्द्र का उसका अपना सम्पूर्ण मान-मर्दन करने के लिए और उसे ध्यान आदि में प्रवृत्त करने के लिए यक्ष ने इन्द्र के साथ भाषण ही नहीं किया, अपितु वहाँ से ओझल हो गया ।।११।।

इन्द्र उसी आकाशप्रदेश में स्त्री, परमशिव की शक्ति के सम्मुख पहुँचा, जहाँ पर ब्रह्मस्वरूप परमशिव ने अपना शिवस्वरूप दिखलाया था और ओझल, अदृश्य हो गया था।

तां विद्यास्वरूपिणीं हैमवतीं हिमवतः पुत्रीम् उमाम् उमाशब्दवाच्यां पार्वतीमाविर्भूतामुवाच ह शरणागतः सन् आजगाम आगतवान् तथा प्रार्थयामासेत्यर्थः। किमेतद्यक्षं उज्ज्वलाकारं स्वरूपं दर्शयित्वा तिरोहितम्। तत्किमिति।।१२।।

।।इति श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वरजगद्गुरुसिद्धलिङ्गशिवाचार्या-स्थानपण्डितेन धर्मरत्नप्रशस्तिसमलङ्कृतेन श्रीशङ्करशास्त्रिणा विरचिता केनोपनिषत्तृतीयखण्डस्य शाङ्करीव्याख्या समाप्ता।।

।। इति तृतीयः खण्डः समाप्तः ।।

विद्यास्वरूपिणी हिमालय की पुत्री के रूप में अवतीर्ण 'उमा' नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म परमशिव की पराशक्ति अत्यन्त सुन्दर थी। उसकी शरण में जाकर इन्द्र ने उससे पूछा —'यह यक्ष कौन है, जिसने अपने उज्ज्वल, तेजोमय, देदीप्यमान स्वरूप का साक्षात्कार कराकर अन्त में अन्तर्ध्यान हो गया।' ।।१२।।

इस प्रकार उज्जयिनी-सद्धर्मसिंहासन के अधीश्वर जगद्गुरु श्रीसिद्धलिङ्गशिवाचार्य के आस्थानपण्डित 'धर्मरत्न' प्रशस्ति से सुशोभित श्रीशङ्करशास्त्री द्वारा विरचित केनोपनिषद्-तृतीय खण्ड की व्याख्या पूर्ण हुई।

।। तृतीय खण्ड सम्पूर्ण ।।

❋❋❋

चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये ।
महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।१।।

सेति। सा भगवती पार्वती देवी, इन्द्रस्य शक्तिपातं समालोक्य विश्वात्मकं विश्वाधिकं सर्वशक्तिकं यत्परशिवलिङ्गं तदेव युष्मद्दुरभिमानशमनार्थं यक्षरूपेणाविरासीत्। तद्यक्षं ब्रह्मैवेति सर्वकर्तृकपरशिवब्रह्मैव न त्वन्यत्, इति ह किल उवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये असुरकर्मकविजये महीयध्वं यूयमिति। ततो हैव तत्पार्वत्युपदेशादेव ब्रह्मेति विदाञ्चकार।।१।।

तस्माद् वा एते देवा अतितरामिवाऽन्यान् देवान्
यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते
ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।२।।

तस्माद्वेति। तस्माद्वा तस्मादेव हेतोर्यद् यस्मादग्निर्वायुरिन्द्रस्ते हि देवा एनत्प्रथमः प्रथमं विदांचक्रुः। तस्मादेवेति पूर्वेण सम्बन्धः। ते देवा अन्यान् देवान् अतितरामिव अत्यन्तमेवोत्कर्षं प्राप्तवन्त इत्यर्थः।।२।।

उसने, भगवती पार्वती देवी ने इन्द्र की सामर्थ्यशून्यता को और मानमर्दन को देखकर कहा—'यह वही विश्वात्मक, विश्वाधिक, सम्पूर्णसामर्थ्यसम्पन्न सर्वव्यापक परशिवलिङ्गस्वरूप परब्रह्म है, जो आप लोगों के वृथाभिमान का शमन करने के लिए यक्ष के रूप में प्रकट हुआ। उससे भिन्न कुछ भी सर्वकर्तृत्वशक्तिसम्पन्न नहीं है।

देवासुरसंग्राम में असुरों पर विजय परब्रह्मस्वरूप परमशिव की ही विजय है, जिसे तुम लोग अपनी जीत समझकर वृथाभिमान करते हो और अपनी महिमा समझते हो।'

पार्वती के इस उपदेश से ही इन्द्र ने उस यक्ष का सर्वशक्तिसम्पन्न परब्रह्म के रूप में साक्षात्कार किया—'यही ब्रह्म है।' ।।१।।

यतः अग्नि, वायु और इन्द्र ने इस परब्रह्मस्वरूप परमशिव का साक्षात्कार किया था, स्पर्श किया था और सर्वप्रथम उसकी सर्वकर्तृत्वशक्ति का ज्ञान प्राप्त किया था, अतः उन्होंने अन्य देवताओं से अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त किया।।२।।

तस्माद् वा इन्द्रो अतितरामिवान्यान् देवान्
स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार
ब्रह्मेति ।।३।।

तस्माद्वा इन्द्र इति। यतोऽग्निवायू विदितवन्ताविन्द्रवाक्यात्, इन्द्रश्चोमावाक्यात् प्रथमं विदितवान् अतिसमीपस्थमद्भुताकारं ज्योतिर्मयं तस्माद्धेतोरिन्द्रोऽन्यान् देवानतिशेते।

एतावत्पर्यन्तमुक्त आख्यायिकाम्नायो भक्तस्थलाचारसम्पत्तिं विना न ब्रह्मविद्याप्राप्तिरिति प्रदर्शनार्थः। नहि देहाद्यभिमानराहित्यप्राधान्यलक्षणभक्तस्थल-रहितस्य तदभिमानपूर्वककामक्रोधादियुक्तस्य शिवाद्वैतविद्याविर्भावोऽस्ति।

अग्न्यादीनां स्वकर्तृकजयाभिमाने भक्तस्थलत्वाभावाद् यक्षमूर्तेर्दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्, अभिमाननाशे च तेषां भक्तस्थलापन्नत्वाद् ब्रह्मज्ञानमुक्तम्। तस्माद् ब्रह्मविद्यासाधनी-भूतभक्तस्थलप्रदर्शनार्थोऽयमाख्यायिकाम्नायः समाप्तः। अग्रे च भक्तकर्तव्यताक-मन्तर्लिङ्गधारणापरपर्यायमुपासनमुच्यते ।।३।।

यतः अग्नि और वायुदेवता ने इन्द्रोपदेश से परब्रह्म को स्पर्श किया, उसका साक्षात्कार किया और सर्वप्रथम उसकी सर्वशक्तिसम्पन्नता को समझा और इन्द्र ने पार्वती के उपदेश से सर्वप्रथम उस परमशिवलिङ्ग का स्पर्श किया, साक्षात्कार किया और उसके सामर्थ्य को समझा, अतः इन्द्र ने अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठता प्राप्त की।

इस प्रकार अभी तक आख्यायिका के रूप में किया गया उपदेश यह प्रदर्शित करने के लिए है कि 'भक्तस्थल' की आचारसम्पत्ति के बिना ब्रह्मविद्या की प्राप्ति नहीं होती। 'भक्तस्थल' की परिभाषा है मुख्य रूप से देहादि के अभिमान से दूर होना । अर्थात् देह को ही आत्मा माननेवाले स्वकर्तृत्वशक्ति के अभिमान से भरे होते हैं और काम, क्रोध आदि भावों से परिपूर्ण रहते हैं। ऐसे जीव पूर्वोक्त 'भक्तस्थल' से शून्य होते हैं। उनमें 'शिवाद्वैतविद्या' का प्रादुर्भाव नहीं होता।

जब तक अग्नि, वायु और इन्द्र में स्वकर्तृत्वशक्ति से असुरों पर विजय-प्राप्ति का अभिमान था, तब तक उनमें 'भक्तस्थल' का धर्म नहीं था। अतः उनके लिए यक्षमूर्ति दुर्ज्ञेय थी। जब उनका मान-मर्दन हो गया, तब उनमें 'भक्तस्थल' का धर्म प्रविष्ट हो गया, उन्हें ब्रह्मज्ञान हुआ। इस प्रकार 'भक्तस्थल' ब्रह्मविद्या का साधन

**तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतत् तदा इती-
न्यमीमिषत् तदा इत्यधिदैवतम् ।।४।।**

तस्यैष इति। तस्य स्तम्भाकारेणाविर्भूतस्य ज्योतिर्मयस्य परशिवब्रह्मणः, आदेश उपासनोपदेशः। यद् यस्माद् एतत् प्रकृतं ब्रह्म विद्युतः प्रसिद्धायाः, व्यद्युतत् तदा प्रकाश इव आविर्भूतम्, पुनश्च न्यमीमिषत् तदा निमेषमिव तिरोहितम्।

'न्यमीमिषत्', 'व्यद्युतदि'त्यत्र प्रत्ययार्थोऽविवक्षितः। यथा विद्युत्प्रकाशोऽन्धकारं दूरीकृत्य युगपदेव सर्वत्र व्याप्तो भवति, तिरोहितश्च भवति, तथैतद् ब्रह्म देवानां स्वप्रकाशस्य दर्शनानन्तरं तिरोहितमभूत्। तस्माद् विद्युत्प्रकाशतत्तिरोभाव इव ब्रह्म क्षिप्रं सृष्ट्यादिकारि वर्तत इति ज्ञात्वा उपास्यम् । एतदुपासनं चान्तर्लिङ्गधारणापर-पर्यायमिति बोध्यम्।

एतदुपमानदर्शनपूर्वकोपासनं च अधिदैवतं देवताविषयकं सर्वान्तर्यामिप्राण-लिङ्गापरपर्यायेश्वरदेवताविषयमित्यर्थः।

है, जिसको समझाने के लिए वर्णित यह आख्यायिकाम्नाय सम्पूर्ण हुआ। अब आगे उस उपासना का प्रतिपादन किया जा रहा है, जिसका दूसरा पर्यायवाची शब्द है 'अन्तर्लिङ्गधारणा', जो भक्तों का कर्तव्य है।।३।।

परब्रह्मस्वरूप प्रकाशमय परमशिवलिङ्ग, जो स्तम्भ के रूप में प्रकट हुआ, उसका यह आदेश अर्थात् उपासनाविषयक उपदेश है कि जिस प्रकार आकाशीय प्रसिद्ध विद्युत्तेज निमेषमात्र में प्रकट और निमेषमात्र में अन्तर्धान होता है, उसी प्रकार परमशिव का स्तम्भाकार ज्योतिर्लिङ्ग निमेषमात्र के लिए प्रकट और निमेषमात्र के लिए ही अन्तर्धान हुआ।

प्रस्तुतमन्त्र में 'न्यमीमिषत' और 'व्यद्युतत्' इन क्रियापदों में भूतकालिक प्रत्ययार्थ अविवक्षित हैं। जिस प्रकार आकाशीय विद्युत्-प्रकाश क्षणभर के लिए अन्धकार को दूर कर एक साथ फैल जाता है और तिरोहित होता है, उसी प्रकार परब्रह्मस्वरूप परमशिव क्षणभर में सृष्टि और प्रलय करता है यह समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए। जिसका दूसरा पर्यायवाची शब्द है 'अन्तर्लिङ्ग-धारण', यह समझना चाहिए। उपमान के प्रदर्शन के साथ जो उपासना समझायी गयी है, वह 'आधिदैवत' अर्थात् उस देव ईश्वर के विषय में है, जो सर्वान्तर्यामी, सभी के अन्तःकरण में रहनेवाला और 'प्राणलिङ्ग' पर्याय से भी सम्बोधित है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां प्रथमं पुरस्ताद् विदाम देवं परमेशमीड्यम् ।।
इत्युक्तेः।।४।।

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन
चैतद् रूपं स्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ।।५।।

अथेति। अथ अनन्तरमध्यात्मम् उपदेशः, उच्यत इति शेषः। अर्थाद् आध्यात्मिकोपदेश इदानीमुच्यत इत्यर्थः। मनो मे विषयासक्तं चित्तं गच्छतीव विषयदेशं प्रति यथा गच्छति, तथा निर्विषयं सद् यदेतत् श्रोत्रमित्युपक्रमवाक्यनिर्दिष्टं षट्स्थलरूपब्रह्म तत्प्रति गच्छति, अविनाभावेन सम्बद्धं भवति। अनेन च मनसा तु निर्विषयेण चितिशक्तिरूपेण एतत्स्वरूपं ब्रह्म उपस्मरति।

स्वकीयसर्वात्मकपरशिवब्रह्मस्वरूपविस्मरणमपसार्य सर्वात्मकशिवोऽहमिति परशिवब्रह्मस्वतादात्म्यं न स्मरति। अभीक्ष्णं पौनःपुन्येन सर्वात्मशिवोऽहमस्मीति

इसमें इस अर्थ का श्रुतिवचन प्रमाण है — 'हमारे सम्मुख सर्वप्रथम आविर्भूत स्तुति के योग्य दीप्तिशील परमेश्वर को हम जानते हैं, वे देवों के भी महादेव हैं, ईश्वरों के परमेश्वर हैं, देवताओं के परम दैवत हैं और स्वामियों के भी स्वामी हैं।' ।।४।।

अब आध्यात्मिक उपदेश दिया जा रहा है — जिस प्रकार रूप-रस-गन्धादि विषयों के प्रति आसक्त मन वैषयिक पदार्थों की ओर आकृष्ट होता है, उसी प्रकार विषयों के प्रति अनासक्त होकर 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि मन्त्रों में वर्णित षट्स्थलरूप ब्रह्म की ओर भी आकृष्ट होकर जाता है और उसके साथ 'अविनाभाव- सम्बन्ध' से सम्बद्ध होता है। विषयों के प्रति अनासक्त मन, अन्तःकरण चितिशक्तिस्वरूप रहता है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्मस्वरूप का ध्यान, स्मरण करता है।

ध्यानावस्था में जीव स्वकीय सर्वात्मक परशिवस्वरूप परब्रह्म के स्वरूप के विस्मरण को दूर करके 'मैं जीव सर्वात्मक शिवस्वरूप ही हूँ' इस प्रकार के परशिवब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य, अभिन्नता का स्मरण नहीं करता।

'मैं, ज़ीव सर्वात्मक शिव ही हूँ' इस प्रकार साधक को वारंवार जो इच्छा होती है, वही संकल्प है। जब साधक जीव की शिव के साथ अद्वैतभावना दृढ

साधकस्य या इच्छा स सङ्कल्पः। शिवाद्वैतभावदार्ढ्ये च स्वाभिन्नत्वेन परशिवब्रह्म साक्षात्करोतीति। एतादृशसाक्षात्कारसाधनोपदेश एव आध्यात्मिकोपदेश इत्यर्थः।।५।।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।
स य एतदेवं वेदाभिहैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ।।६।।

तद्धेति। कियत् स्वशक्तिस्वातन्त्र्येण षट्त्वावच्छिन्नलिङ्गरूपं जातं तद्ध ब्रह्म किल तद्वनं नाम सर्वैः पृथिव्याद्यात्मान्तभूतैरङ्गस्थलैर्वनं प्रार्थनीयम्। वन् सम्भजने इति धातोः। सर्वैरङ्गस्थलैर्वननीयत्वात् प्रार्थनाविषयत्वात्। प्रार्थना च इच्छा, तद्विषयत्वात् प्रार्थनाविषयत्वात्। अत्र वनपदं इष्टलिङ्गनामकमित्यर्थः।

सर्वैरप्यङ्गस्थलापन्नैः स्वस्वस्थूलभूतषट्कशुद्धिरूपसामरस्यायेष्टलिङ्गगताचारादिलिङ्गानां प्रार्थनीयत्वात्, वननीयस्य वनस्येष्टलिङ्गस्यैकार्थकत्वात्। अग्रे

हो जाती है, उस अवस्था में वह अभेदबुद्धि से परशिव परब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार के साक्षात्कार के लिए की जानेवाली साधना का उपदेश ही आध्यात्मिक उपदेश है।।५।।

इष्टलिङ्गोपासना — 'वन भजने' इस धातुपाठ के अनुसार भजन (प्रार्थना)-अर्थक 'वन' धातु से निष्पन्न 'वन' शब्द का यहाँ दो बार प्रयोग है। इनमें एक का अर्थ है 'इष्टलिङ्ग' और दूसरा अर्थ है प्रार्थना के योग्य। ब्रह्म, सर्वव्यापक परमशिवरूप ऊर्ध्वलिङ्ग ही अपनी चितिशक्ति की स्वातन्त्र्यमहिमा से षट्स्थललिङ्ग के रूप में आविर्भूत होता है। पृथिवी से लेकर आत्मा तक के अङ्गस्थलों द्वारा 'वन' (इष्टलिङ्ग) की उपासना करनी चाहिए।

[आचारलिङ्ग, गुरुलिङ्ग, शिवलिङ्ग, चरलिङ्ग, प्रसादलिङ्ग और महालिङ्ग ये छः 'इष्टलिङ्ग' हैं। पृथिवी से लेकर आत्मा तक सभी 'अङ्गस्थल' 'इष्टलिङ्ग' के साथ सामरस्य स्थापित करना चाहते हैं, अर्थात् अपनी-अपनी षड्विध स्थूल भौतिक शुद्धि चाहते हैं, अतएव अपने-अपने इष्टलिङ्ग की उपासना करना चाहते हैं।] अतः (अङ्गस्थलों द्वारा वननीय प्रार्थनायोग्य होने के कारण), आचारादि षड्विध इष्टलिङ्ग 'वन' नाम से सम्बोधित हैं। 'इष्टलिङ्ग' और 'वन' दोनों का एक अर्थ है। आगे यह कहा गया है कि 'सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति'। अर्थात् स्थूल षड्विध भौतिक पदार्थ षड्विध लिङ्ग के गर्भ में अवस्थित इष्टलिङ्ग को ही चाहते

'सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ती'त्युक्त्या भूतशुद्धिरूपभूतजयस्य वक्ष्यमाणत्वात् स्थूलषड्भूतजयाय स्थूलषड्लिङ्गगर्भेष्टलिङ्गस्यैव संयमविषयत्वमिति वक्तुमौचित्यात्।

एतावता किं जातमिति चेत्, तदुक्तं ब्रह्म वनमिति। इष्टलिङ्गरूपमिति ज्ञात्वा उपासितव्यम्। स्थूलभूतषट्कं स्थूलषड्लिङ्गगर्भेष्टलिङ्गे संयोजनीयम्।

'उपासनैव संयोगः संयोगो द्वैतसल्लयः' इत्युक्तत्वात्।

संभजनीयेष्टलिङ्गोपासने किं फलमित्यत्राह — स य इति। य एवं सर्वैरङ्गैः प्रार्थनीयमिति वेद उपास्ते स एतद् वनं भवति, वननीयेष्टलिङ्गरूपो भवति। किञ्चैनं ह वनं किलोपासकं सर्वाणि भूतानि षट्संख्याकान्यपि, अभि अभितः सर्वप्रकारेण संवाञ्छन्ति उपासकस्येच्छानुसारेण संगच्छन्ति, तस्य वशवर्तिनो भवन्तीत्यर्थः। अनेन मन्त्रेण इष्टलिङ्गोपासनमुक्तमिति वेदितव्यम्।।६।।

हैं, उसके ही वशवर्ती होते हैं। अतः यह कहना उचित होगा कि षड्विध स्थूल भौतिक पदार्थों पर विजय पाने के लिए स्थूल षड्विध लिङ्ग के गर्भ में अवस्थित 'इष्टलिङ्ग' को ही संयम का विषय बनाना होगा, वश में करना होगा।

'इससे क्या लाभ हुआ?' इस प्रश्न का उत्तर है — 'सर्वव्यापक परमशिव-स्वरूप ऊर्ध्वलिङ्ग इष्टलिङ्ग का ही रूप है, उससे अभिन्न है, अतः उसकी उपासना करनी चाहिए। अर्थात् गन्धादि षड्विध-स्थूल भौतिक विषयों को स्थूल षड्विध लिङ्ग के अन्तर्गत रहनेवाले आचारादि इष्टलिङ्ग में विलीन करना चाहिए।

कहा भी है — 'उपासना' का अर्थ है स्थूल षड्विध भौतिक विषयों का षड्विध स्थूललिङ्ग के अन्तर्गत अवस्थित 'इष्टलिङ्ग' के साथ संयोग। उपासना ही संयोग है, दोनों अभिन्न हैं। संयोग का अर्थ है द्वैतभावना का विलय, अद्वयभावना।

जिस 'इष्टलिङ्ग' को भजना चाहिए, 'उसका क्या फल है? इस विषय में कहते हैं—'स य एतदेवं वेद।' जो उपासक 'पृथिवी से लेकर आत्मा तक सभी अङ्गस्थलों के द्वारा इष्टलिङ्ग की उपासना करनी चाहिए' यह समझकर उपासना करता है, वह स्वयं 'इष्टलिङ्ग'स्वरूप हो जाता है। पृथिवी से लेकर आत्मा तक सभी भूत सब प्रकार से उपासक को चाहते हैं, उसकी इच्छा के अनुसार चलते हैं, उसके वशवर्ती होते हैं। इस मन्त्र के द्वारा 'इष्टलिङ्ग' की उपासना का विधान किया गया है यह समझना चाहिए ।।६।।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।।७।।

उपनिषदमिति। आत्मना विन्दते वीर्यमित्यस्मिन् विद्यारूपवीर्यप्राप्तिः शुद्धात्मना भवतीत्युक्तम्। तस्मादुपनिषदं भो ब्रूहीति शिष्येण पृष्टो गुरुः पुनराह — उक्ता त उपनिषदिति। साक्षान्मोक्षप्रापकवीर्यापरपर्यायचिच्छक्तिरूपोपनिषदुक्त्यैव ते तुभ्यं ब्राह्मीं ब्रह्मणः परशिवस्य इयं चिच्छक्तिरूपा तां वीर्यरूपामुपनिषदं विद्यां मया सामीप्येन सामरस्यलक्षणेन नितरां परशिवब्रह्मप्राप्यकृत्रिमाहङ्कारादीन् शिथिलीकृत्य स्वशक्तिसङ्कोचाख्यातिं सादयत्यपसारयति शैव इत्युपनिषत्। तामब्रूमैव उक्तवन्त एव, अतोऽन्यामात्मशुद्ध्यौपयिकीमुपनिषदं वक्ष्यामः, शृण्वित्यर्थः ।।७।।

शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया — 'गुरुजी ! आप मुझे मोक्षप्राप्ति के रहस्य का उपदेश करें।' गुरु ने उत्तर दिया — 'वह रहस्य मैंने समझा दिया है। वह ब्रह्मविद्या है। अब दूसरा उपदेश करूँगा, उसे सुनो।'

शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—'भो ! उपनिषदं ब्रूहि।' 'हे गुरो ! आपने 'आत्मना विन्दते वीर्यम्' इस मन्त्र के द्वारा वीर्यप्राप्ति का उपदेश दिया है। अब आप मोक्षप्राप्तिप्रयोजक उसके रहस्य का उपदेश करें।' गुरु ने शिष्य को उत्तर दिया— 'उक्ता ते उपनिषद्।' शिष्य ! मैंने इसी मंत्र के द्वारा तुम्हें यह रहस्योपदेश कर दिया है कि 'शुद्धविद्यास्वरूप 'वीर्य' के द्वारा 'अमृत'पद अर्थात् जरा-मरणादिपाशबन्धनरहित अमरत्व मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

'ब्राह्मीं वा व त उपनिषदम् अब्रूम।' हे शिष्य! ब्रह्मविद्या, जिसका दूसरा नाम 'वीर्य' है, परब्रह्मस्वरूप परमशिव की चिच्छक्तिस्वरूपा होने के कारण 'ब्रह्मविद्या' है। वही 'उपनिषद्' है। 'उप' (सामीप्येन सामरस्यलक्षणेन) 'नि' (नितरां) 'सादयति' (अपसारयति) स्वशक्तिसङ्कोचाख्यातिम् इति 'उपनिषद्'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिवोपासक मेरे (गुरु के) द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या से परब्रह्मस्वरूप परमशिव के साथ सामीप्य, सामरस्य प्राप्त करता है और उसके द्वारा कृत्रिम अहङ्कार आदि को शिथिल कर अपनी त्रिविध शक्तिसंकोचाख्याति को दूर करता है। मलस्वरूप अज्ञानावरण हटने के बाद चिच्छक्ति का विकास होता है। इस प्रकार आत्मशुद्धिकारिणी होने से चिच्छक्ति ही शुद्धविद्या है। उस रहस्य को मैंने समझा दिया है। अब मैं आत्मशुद्धिकारक दूसरे उपनिषद्, रहस्य को समझाता हूँ, उसे सुनो।।७।।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा ।

वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ।।८।।

तस्यै इति। तस्यै या तवाग्रे विद्यारूपा उपनिषदुक्ता, तस्यै तपः कर्म च।

शिवार्थे देहसंशोषस्तपः कृच्छ्रादि नो मतम् ।
शिवार्चा कर्म विज्ञेयं बाह्यं यागादि नोच्यते ।।

इत्यादिनोक्तं वीरशैवैरादरणीयमिति ज्ञेयम्, न तु परैरभ्युपगतं कृच्छ्रादि-बहुवित्तव्ययायाससाध्यज्योतिष्टोमयागादिकर्म।

अग्निष्टोमादयो यज्ञा अश्वमेधावसानकाः ।
सर्वेऽपि शिवभक्त्यर्थं निश्चिता वेदशास्त्रयोः ।।

इत्युक्तेस्तत्फलस्यापि नश्वरत्वाच्च 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुतेः, बाह्यकर्मस्वीकारे तत्फलस्याप्यनित्यत्वापत्तेः।

उस ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के लिए तपस्या, दम और कर्म आवश्यक है। वही प्रतिष्ठा-हेतु है। वेद, वेदाङ्ग और सत्यवचन प्रयोजक हैं। तुम्हारे सम्मुख शुद्धविद्यास्वरूपिणी जिस उपनिषद्, रहस्य का उपदेश किया है, उसकी प्राप्ति के तप और कर्म करना चाहिए। यहाँ पर तप का अर्थ है परमशिव की प्राप्ति के लिए देह को कृश करना और कर्म का अर्थ है शिवपूजन, जो वीरशैवों को अभीष्ट है। जैसा कि कहा है— 'परब्रह्मस्वरूप परमशिव को प्राप्त करने के लिए किया गया शरीर-दौर्बल्य ही तपश्चरण है, कृच्छचान्द्रायणव्रतादि हमें अभीष्ट नहीं है। वह तपश्चरण नहीं है। इसी प्रकार शिव की अर्चना कर्म है, बाह्ययागादि को कर्म नहीं कहते।'

इस प्रकार वीरशैवों द्वारा आदरणीय देहसंशोषरूप तपश्चरण और शिवार्चा रूप कर्म करने चाहिए। कृच्छ्रचान्द्रायणव्रतादि अथवा यागादि नहीं। क्योंकि ज्योतिष्टोमयागादिक कर्म बहुत व्यय से और परिश्रम से करने पड़ते हैं।

जैसा कि कहा है—'अग्निष्टोम से लेकर अश्वमेधपर्यन्त समस्त यागों की परिणति वेद और शास्त्रों में परमशिव की भक्ति के लिए ही निर्धारित है।' याग-फल भी शाश्वत न होकर, नश्वर हैं, जैसा कि श्रुतिवचन है—'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।' 'जिस प्रकार यागादि बाह्यकर्मों का

दमश्च बाह्येन्द्रियनिग्रहरूपः, प्रतिष्ठाविद्याविर्भावहेतुरित्यर्थः। शिवार्चादिकर्मसद्भावे सा प्रतितिष्ठति, तदभावे सा न प्रतितिष्ठतीति शिवपूजादिकं विद्याविर्भावहेतुर्भवति। दमस्यापि विद्याप्रयोजकत्वाद् विद्यासाधनघटकत्वमुक्तमिति ज्ञेयम्।

उक्तं च सिद्धान्तशिखामणौ रेणुकभगवत्पादैः—

तपो दमो विवेकश्च वैराग्यं पूर्णभावना।
क्षान्तिः कारुण्यसम्पत्तिः श्रद्धा सत्यसमुद्भवा।
शिवभक्तिः परो धर्मः शिवज्ञानस्य बान्धवाः। इति।

किञ्च, वेदाः सर्वाङ्गानि षडङ्गसहिताश्च वेदभागा वीरशैवाचार्यादृत-शाश्वतफलप्रयोजकीभूताः, सत्यं च वचनम् आयतनं प्रयोजकमित्यर्थः।।८।।

कर्मफल नष्ट होने पर स्वर्गादिलोक नष्ट होता है, उसी प्रकार चान्द्रायणव्रत आदि का कर्मफल पुण्यफल नष्ट होने पर परलोक नष्ट होता है।' यदि बाह्यकर्माचरण का अङ्गीकार करते हैं, तो उसका फल अनित्य होगा। यहाँ दम का अर्थ है बाह्य इन्द्रियों का निग्रह, उन पर नियन्त्रण।

तपश्चरण और परमशिव की अन्तरार्चना, मानसपूजा चिच्छक्तिस्वरूपिणी ब्रह्मविद्या के आविर्भाव के हेतु हैं। उनके अनुष्ठान करने पर ही वह प्रतिष्ठा पाती है, उनके अभाव में नहीं। इसलिए शिवपूजा आदि विद्या के प्राकट्यहेतु हैं।

इन्द्रियों पर निग्रह किये बिना वह प्राप्त नहीं हो सकती, अतः विद्याप्रयोजक होने के कारण उसकी गणना विद्यासाधन के घटक के रूप में समझनी चाहिए।

'सिद्धान्तशिखामणि' में रेणुकभगवत्पादाचार्य कहते हैं — 'शरीरशोषणात्मक तपश्चरण, इन्द्रियनिग्रहात्मक दम, विवेक, वैराग्य की पूर्ण भावना, क्षान्ति (क्षमा-शीलता), कारुण्यसम्पत्ति (दया की भावना), सत्यवचन से उत्पन्न श्रद्धा, शिवभक्ति और परमधर्माचरण परब्रह्मस्वरूप परमशिव के साक्षात्कार के बन्धु-बान्धव हैं। वेद, वेदाङ्ग और सत्यवचन शुद्धविद्या के घर हैं। चार वेद और छः वेदाङ्ग वीरशैवों द्वारा आदृत शाश्वत फल के प्रयोजक हैं, उसी प्रकार सत्यवचन भी प्रयोजक है।।८।।

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे
लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।। ९ ।।

।। इति चतुर्थखण्डः ।। केनोपनिषत् समाप्ता ।।

यो वेति। य एतां ब्रह्मविद्यामुक्तसाधनसम्पन्नो वेद, स पाप्मानं पापादिजनक-कार्मिकादिमलमपहत्य विधूय, अनन्ते परशिवस्य ब्रह्मणः कालादिपरिच्छेदरहितत्वात् सर्वात्मकत्वात् ब्रह्मविष्णवविज्ञाताद्यन्तवत्त्वाद् वा अनन्तः परशिवः।

ब्रह्मा हरिश्च भगवानाद्यन्तं नोपलब्धवान् ।
ततोऽन्ये च सुरा यस्मादनन्तोऽहमुतोऽस्म्यहम् ।।

इति शिवगीतोक्तेः।

तपश्चरण-दम-कर्म-वेद-वेदाङ्ग-सत्यवचनादिसाधनसम्पन्न जो परमशिवोपासक 'वीर्य'पर्यायवाचिनी परब्रह्मस्वरूप परमशिव की चिच्छक्तिस्वरूपा ब्रह्मविद्या को पूर्वोक्त रीति से जानता है, उसके उपनिषद्-रहस्य को समझता है, वह 'पाप्मा' अर्थात् पापादि उत्पन्न करनेवाले कार्मिकादि तीनों मलों[1] को दूर करके अनन्त श्रेष्ठ स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

परब्रह्मस्वरूप परमशिव देश, काल, अवस्था आदि परिच्छेदों, सीमाओं से रहित है, सर्वात्मक है, ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्र आदि अन्य देवता उसके आदि-अन्त से अपरिचित हैं, अतः 'अनन्त' है।

जैसा कि शिवगीता की उक्ति है — 'यतः ब्रह्मदेव और विष्णु भगवान् मेरे आदि अन्तस्वरूप को नहीं समझ सके, पश्चात् इन्द्र आदि अन्य देव भी नहीं समझ सके। अतः मैं, परमशिव 'अनन्त' हूँ।

---

१. **त्रिविध मल** — यहाँ 'पाप्मा' का अर्थ है पापकारक 'मल'। 'मलावृतत्वमेव जीवत्वम्' इस परिभाषा के अनुसार 'जीव' का धर्म है 'मल' से घिरा रहना, जो उसका बन्धन, पाश है। परमेश्वर की स्वाभाविक इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इस त्रिविध शक्ति के सङ्कुचित स्वरूप को ही 'मल' कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है— (१) आणवमल, इच्छाशक्ति का संकोच। (२) मायीय मल, ज्ञानशक्ति का संकोच और (३) कार्ममल, क्रियाशक्ति का सङ्कोच। उक्त त्रिविध मल बन्धनस्वरूप होने के कारण जीव को पापादि में प्रवृत्त करते हैं, अतः वे 'पाप्मा' 'पापकारक' हैं। ब्रह्मविद्यावेत्ता उनको दूर करता है।

तस्मिन्ननन्ते परशिवे ज्येये ज्येष्ठे सर्वोत्तमे स्वर्गे लोके सुखात्मकशिवलोके, अनन्तादिपदसमभिव्याहृतस्वर्गलोकशब्दस्य परशिवलोकपरत्वौचित्यात्। प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितो भवति, परशिवलिङ्गे सामरस्यं प्राप्नोतीति यावत्। प्रतितिष्ठतीति पुनर्वचनं उपनिषत्समाप्तिप्रदर्शनार्थम्।।९।।

।।इति श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुसिद्धलिङ्ग-
शिवाचार्यास्थानपण्डितेन उमचिगिपुरमध्यविद्योतमानवृष्टिमठा-
धीश्वरेण धर्मरत्नप्रशस्तिसमलङ्कृतेन शङ्करशास्त्रिणा
रचिता केनोपनिषदश्चतुर्थखण्डस्य
शाङ्करी व्याख्या समाप्ता ।।

'ज्येये स्वर्गे लोके' का अर्थ है 'श्रेष्ठ स्वर्गलोक में।' यहाँ स्वर्गलोक का तात्पर्य सुखात्मक परमशिवलोक है, जो 'ज्येय', ज्येष्ठ, श्रेष्ठ 'अनन्त' आदि पदों से सम्बोधित है।

यत्र दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं यत् तत् सुखं स्वपदात्मकम् ।।

इस परिभाषा के अनुसार उसी सुख को 'स्वर्ग' कहते हैं जो दुःखमिश्रित न हो और अनन्तर भी उसमें दुःख का समावेश न हो, साथ ही इच्छाशक्ति के विकास के साथ ही जो प्राप्त हो। वह सुखात्मक स्वर्गलोक परब्रह्मस्वरूप परशिवलोक ही हो सकता है, जो ज्येय, ज्येष्ठ-श्रेष्ठ 'अनन्त' आदि पदों से भी सम्बोधित है।

'प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति' — ब्रह्मवेत्ता ही परमशिवलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है अर्थात् परमशिवलिङ्ग में सामरस्य, विलय प्राप्त करता है। द्वितीय वार 'प्रतितिष्ठति' यह उक्ति उपनिषद् की समाप्ति को सूचित कर रही है। ।।९।।

इसप्रकार श्रीउज्जयिनीस्थित सद्धर्मसिंहासन (सद्धर्मपीठ) के अधीश्वर
श्रीविभूषित जगद्गुरु सिद्धलिङ्गशिवाचार्य के आस्थानपण्डित
उमचिगिपुर के मध्य में प्रकाशमान वृष्टिमठ के मठाधीश
'धर्मरत्न' प्रशस्ति से समलंकृत पण्डित श्रीशङ्कर-
शास्त्री द्वारा विरचित केनोपनिषद् के चतुर्थ
खण्ड की शाङ्करी व्याख्या सम्पूर्ण हुई।

सर्वाभीष्टफलप्रदे शिवपदे कल्याणवृन्दास्पदे
भक्तानां सुखदे लसद्गुरुपदे सुज्ञानपाथोह्रदे ।
व्याख्येयं निहिताऽभवच्चरपदे रत्नावली शाङ्करी
ह्यप्पय्यार्यतनूजशङ्करसुधीरत्नेन विद्वन्मुदे ।।



सभी अभीष्ट फल को प्रदान करनेवाले 'शिव'पदस्वरूप कल्याण-परम्परा के आस्पद भक्तों को सुखदायक सुज्ञानसागर श्रीगुरुचरणों में श्री अप्पाचार्य के पुत्र श्रीशङ्करशास्त्री विद्वानों की प्रसन्नता के लिए रत्नमालास्वरूप 'केनोपनिषद्' की शाङ्करी व्याख्या अर्पित कर रहे हैं।

।। चतुर्थ खण्ड और केनोपनिषद् (व्याख्या) सम्पूर्ण ।।



ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तर-सूची

❀ ❀ ❀